महादेवी की मीरां

मनचीते पुरुष की खोज

अनामिका

एशियाई स्त्रीवाद जे. बर्नहार्ट की इस अवधारणा से नज़र आता है कि 'कहते रह गये फ्रॉयड धर्म को 'भ्रांति' और मार्क्स उसे अफ़ीम बताते रह गये, पर मनुष्य की जात लाइलाज़ रूप से धर्मप्राण ही रही।'[1] इसलिए समझदारी इसी बात में है कि हम उभयनिष्ठ धार्मिक प्रपत्तियों या आध्यात्मिक मूल्यों (नैतिक कथाओं, मिथकों, रीति-नीतियों) की एक साझा गुदड़ी सिलें और फण्डा+मेण्टल+इज़्म की धज्जियाँ उड़ाते ऐसे धर्मेतर अध्यात्म के पैरोकार बनें जहाँ कुछ भी भयावह रूप से गम्भीर और सँकरा नहीं, तरल हँसमुख दोस्त दृष्टि से परिचालित है सब-कुछ! ज़रूरी है तो बस खिड़कियाँ-दरवाज़े खुले रखना, इतर परम्पराओं से मुक्त संवाद की पहल। इसी क्रम में भक्त कवियों, धर्मग्रंथों और गाथाओं की भी नयी विवेचनाएँ ज़रूरी हैं। आवश्यक है उनका पुनः पाठ और साथ में यह समझना भी ज़रूरी है हर युग किसी क्लासिक रचना का नया भाष्य लिखता है।

---

[1] जे. बर्नहार्ट (1999), 'द इनक्यूरेबिली रिलीजस एनिमल', एमाइल साहलियेह (सम्पा.), *रिलीजस रिसर्जेंस ऐंड पॉलिटिक्स इन द कंटेम्परेरी वर्ल्ड*, एलबेनिस युनिवर्सिटी, न्यूयार्क.

हिंदी साहित्य के ज़्यादातर इतिहास स्त्री-कविता के नाम पर 'मीरां' स्टेशन से एक छुक-छुक गाड़ी छोड़ते है। यह गाड़ी बीच के छोटे-छोटे स्टेशन फलाँगती सीधी 'महादेवी' पर रुकती है और मज़े की बात यह कि इतनी सदियों के अंतराल के बावजूद दोनों स्त्री-कवियों के 'चिरप्रतीक्षित पुरुष' एक जैसे हैं— काम्य परिवेश गढ़ने में निमग्न डीक्लास सखा। 'ज्ञानिनाम अग्रण्य' चरवाहा किशोर मीरां रानी के मनचीते पुरुष हैं। रहा महादेवी का प्रश्न तो उनके निजी जीवन के बारे में तो बस अटकलें ही लगायी जाती रही हैं। पर सार्वजनिक जीवन में उनके जग ज़ाहिर मनचीते पुरुष हैं : बुद्ध और गाँधी, जो कहीं से भी 'मैचो' अतिपुरुष नहीं। दोनों के मनचीते पुरुष बराबरी में संवाद के लिए प्रस्तुत हँसमुख साथी हैं जो देश-काल में ज़रूरी परिवर्तन घटित करते हैं पर ख़ून-ख़राबे से नहीं, रीति-नीति से। गपशप और हास-विलास के लिए हरदम उपलब्ध नहीं रहते, वियोग में डालते हैं। पर वह वियोग भी मीठा है, क्योंकि उसमें मार-पीट, गाली-गलौज की स्मृतियाँ डाका नहीं डालतीं। एक कल्पनाशील स्त्री के लिए तो सहज सौहार्द का तरल आश्वासन ही बहुत है और यह एहसास कि उस चिरप्रतीक्षित की स्मृतियाँ मधुर हैं और परिवेशगत विषमताओं के विरुद्ध संघर्ष के जिस महामिशन से वह जुड़ा है, वह उसे (स्त्री को) भी तो एक ऐसा स्नेह-तरल रचनात्मक स्पेस दे रहा है जहाँ हर समय कोई सर पर सवार नहीं है!

मीरां जन्मशती के अवसर पर राजस्थान की कई संस्थाओं ने महादेवी को मीरां पर बोलने के लिए बुलाया था। राजस्थान के अलग-अलग हिस्सों में घूमकर वे मीरां पर बोली थीं। राजकमल प्रकाशन के लिए यह भाषण-शृंखला सम्पादित करते हुए यह बात मेरे मन में कौंधी कि समकालीन स्त्री-कविता में उभरने वाले दोस्त-पुरुष और दोस्त-परिवेश का ब्लू-प्रिंट कहीं-न-कहीं मीरां और महादेवी के मनचीते/चिरप्रतीक्षित पुरुष से जुड़ता है जो बृहत्तर परिवेश की विडम्बनाएँ समेटने में व्यस्त है और जिसे अपनी साथिन से यह उम्मीद भी है कि वह उसके वियोग में रोती झींकती बैठी नहीं रहेगी बल्कि अपनी सर्जनात्मक वृत्तियों का ऊर्जस्वी उपयोग करती हुई एक ऐसा खुला-खिला भाषा-घर रचेगी जिसमें दरवाज़े और दीवारें हों ही नहीं— हवा की तरह, रूपकों की तरह, धूप की तरह कोई कभी भी, कहीं से भी आ-जा सकता हो। घर वही होता है जहाँ आप लौट सकें। इसलिए स्मृतियाँ घर हैं। सपनों से स्मृतियों तक की आवाजाही हरदम क़ायम रहती है। कविता घर है। जल्पना से कल्पना का नाता जब भी विच्छिन्न हुआ, सारे पुल टूट गये। कल्पना और जल्पना, निजी और समवेत, माइक्रो और मैक्रो, वैचारिक और राजनीतिक के बीच का पदानुक्रम स्त्री-भाषा एक आवेगमय झप्पी, एक हँसमुख जक्स्टापोज़िशन में तोड़ती है। स्त्री-भाषा का यह उद्यम ग़ैर-बराबरी के प्रतिकार के अनुरूप ही है, जो इसका बृहत्तर दर्शन भी है। इसके सूत्र मीरां-महादेवी की कविता में भी ढूँढ़े जा सकते हैं।

दीवारें लाँघने का यह क्रम ही स्त्री को (स्त्री-भाषा, स्त्री-साहित्य को भी) वह हँसमुख दोस्त-दृष्टि देता है जो पदानुक्रम ढा दे। हास्य जगता ही वहाँ है जहाँ सोचने और देखने के स्थापित क्रम को एक ख़ुशदिल-सी चुनौती मिलती है। मीरां की भाषा में यह ख़ुशदिल चुनौती स्पष्ट है, महादेवी की भाषा मुँह पर आँचल रख कर हँसती है— ख़ासकर गद्य में। अवज्ञा वहाँ है पर सविनय, मीरां की तरह बिंदास अवज्ञा नहीं। हँसने के क्रम में वे रक्त और यौन संबंधों तक कीलित परिवार और धर्म की जकड़बंदियों को चुनौती देना भी नहीं भूलतीं! वैष्णवों से मीरां का मलंग विवाद और काशी विश्वविद्यालय के आचार्यों से महादेवी की गम्भीर असहमतियाँ इस बात का स्पष्ट साक्ष्य वहन करती हैं कि उनकी कविता की तरह उनकी धर्मचेतना भी जकड़बंदियों के बाहर थी! अब्राह्मण होने के कारण महादेवी वर्मा बनारस हिंदू विश्वविद्यालय से संस्कृत में एमए नहीं कर सकीं,पर संस्कृत के आर्ष साहित्य से किये गये उनके अनुवाद और बौद्ध दर्शन से ही नहीं बल्कि बुद्ध के व्यक्तित्व से भी उनका गहरा अनुराग किसी भी शास्त्र से अधिक अंतर्दृष्टिपूर्ण है। कृष्ण, गाँधी या और किसी योगीनुमा पुरुष के लिए स्त्रियों के मन में जो एक स्वाभाविक आकर्षण होता है, वह शायद इसलिए कि सामान्य

महादेवी वर्मा

हिंदी साहित्य के ज़्यादातर इतिहास स्त्री-कविता के नाम पर 'मीरां' स्टेशन से एक छुक-छुक गाड़ी छोड़ते हैं। यह गाड़ी बीच के छोटे-छोटे स्टेशन फलाँगती सीधी 'महादेवी' पर रुकती है। दोनों स्त्री-कवियों के 'चिरप्रतीक्षित पुरुष' एक जैसे हैं— काम्य परिवेश गढ़ने में निमग्न डीक्लास सखा। 'ज्ञानिनाम अग्रण्य' चरवाहे किशोर मीरां रानी के मनचीते पुरुष हैं। पर सार्वजनिक जीवन में उनके जग ज़ाहिर मनचीते पुरुष हैं : बुद्ध और गाँधी, जो कहीं से भी 'मैचो' अतिपुरुष नहीं।

पुरुषों की तरह वे उनके पीछे नहीं पड़ते और थोड़े से शांत-सचेत होते हैं, स्त्रियों के ज्ञानात्मक या संवेदनात्मक विस्तार में उनकी रुचि होती है, उन्हें गर्भ-मात्र या काया-मात्र मानकर ख़ारिज करने में नहीं! इसलिए बाद के साहित्य में पनपी दोस्त और हमदर्द पुरुष की अवधारणा से भी उन्हें जोड़ा जा सकता है जिसे रेचल ऐल्स ने 'हेज़ेमोनिक' क़रार दिया है :

> वर्चस्ववादी मर्दानगी के धारक 'धाँसू रूप से आदर्श' पुरुष नहीं होते हैं। वे तो अपने ढंग से अनूठे, सबसे अलग— लोकप्रिय नायक, फंतासी— प्रतिमाएँ और अनुकरणीय प्रतिमान होते हैं। वर्चस्ववाद सांस्कृतिक प्रभुत्व से संबंध का प्रश्न ही तो है, गणनावाद उसके स्वभाव में नहीं, सिर्फ़ सिर गिनकर संतुष्ट वह नहीं होता।[2]

ज़्यादातर पुरुष पढ़ी-लिखी, परिष्कृत मन वाली स्त्रियों के इस मनचीते पुरुष से चिढ़ते हैं! इस पूरे ब्लू प्रिंट से वे चिढ़ते हैं, क्योंकि इस पर खरा उतरना कई बार उनके लिए सम्भव नहीं होता और इस आदर्शीकरण की कुछ समस्याएँ भी हैं; ख़ासकर पश्चिम में :

> सच पूछिए तो निर्विवाद रूप से आदर्श पुरुष कौन है— अमेरिकी मर्द— शादीशुदा, जवान, उत्तर अमेरिकी सफ़ेद मर्द, शादीशुदा और नौकरीशुदा, क़द-काठी, कार-वार— सब कुछ आदर्श, एक इंच कम, न ज़्यादा, खेल के मैदान में भी बाज़ी मार आया पुरुष। जो पुरुष ऐसा नहीं हो पाता, अपूर्ण और अयोग्य होने की एक कसक और कुंठा उसे आजीवन परेशान रखती है।

भूमण्डलीकृत बाज़ार द्वारा प्रस्तावित 'कम्प्लीट मैन' अब तो भारत में भी रेमण्ड्स सूट पहनने वाला और बड़ी गाड़ी पर घूमने वाला सम्पन्न पुरुष हो गया है, पर स्वाधीनता आंदोलन तक ऐसी बात नहीं थी! नेहरू तो इस छवि में थोड़े फिट भी होते लेकिन जिन दो स्त्री-कवियों की बात आज हम करने चले हैं, उसमें एक का मनचीता पुरुष तो ज्ञानी चरवाहा था, और दूसरे का राजपाट छोड़कर चल देने वाला सिद्धार्थ और (दूसरे चरण में) एक लँगोट में विलायती राउण्ड-टेबल कान्फ़रेंस हो आने वाला निर्भीक मोहनदास। इन तीनों में से किसी को अपने पौरुष के अनवरत रेखांकन के लिए अतिपुरुष होने की ज़रूरत नहीं थी और इसीलिए ये संवेदनशील स्त्री कवियों के अनन्य सखा हो पाए।

---

[2] रेचल ऐल्स, ऐनेटे फिट्साइमंस और कैथलीन लेनन (2002), *थियराइज़िंग मेन ऐंड मैस्क़ुलिनिटीज़,* पॉलिटी प्रेस, कैम्ब्रिज.

महादेवी का स्त्री पाठ

जो लोग स्त्रीवादी आलोचना पर पश्चिमी प्रभाव के अतिरेक का अभियोग लगाते हैं, उन्हें यह बात समझ लेनी चाहिए कि 'कैनोनिकल' और 'कोलोनियल'— दोनों पर पहला प्रहार स्त्रीवाद ने किया था। ज्ञान-प्रत्याख्यान में वैकल्पिक स्रोतों की तलाश एलिस वॉकर और कुमकुम संगारी जैसी स्त्रीवादियों ने ही शुरू की थी। क्षेत्रीय साहित्य और (क़िस्सागोई जैसी) देशी परम्पराओं का संधान; मौखिक इतिहास लेखन; रीति-रिवाज़, मिथक प्रत्याख्यान; तस्वीरें, घरेलू चिट्ठियाँ और अन्य अनादृत दस्तावेज़ समेत अज्ञात पांडुलिपि संधान; ग़लत तरजीह पा गये स्त्री विरोधी पाठों पर लाल चिह्न के निशान आदि महत कार्य स्त्रीवादी आलोचना ने ही सम्भव किये। अपने इन्हीं प्रयोगों और 'बहुलतावादी मैं' की अपनी मूल अवधारणा के कारण यह आलोचना उत्तर-संरचनात्मक कहलायी।

मनुष्य के अस्तित्त्व की सार्थकता प्राकृतिक साधनों से इसके सर्जनात्मक, अंत:कियात्मक संवाद में है। कोई भी भूमिका जो श्रम या काम के मूलाधिकार से वंचित करे, शोषणपरक है। पूँजीवादी व्यवस्था का केंद्र है अहंवादी, ठिंगना, लालची भोक्ता भाव जिसके ख़िलाफ़ लगातार संघर्ष करती हुई स्त्रीवादी आलोचना स्वयं मीरांबाई की कविता की लय में— परिवार, प्रेम, यौनिकता और नैतिकता की नयी परिभाषाएँ गढ़ती है और इस संदर्भ में जो महत्त्वपूर्ण प्रश्न पूछती है, वही इसके धर्मेतर अध्यात्म का आधार है। इनमें कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न ये कि प्रेम और सद्‌भाव पति और बच्चों तक सीमित क्यों? प्रजननात्मक लेबर भी 'लेबर' का मान नहीं पाता, तो आख़िर क्यों?

ध्यान से देखें तो एशियाई स्त्रीवादियों की साहित्यिक आलोचना स्रोत-विश्लेषण में उत्तर-औपनिवेशिक, साम्य-दर्शन में मार्क्सवादी, भाषिक विश्लेषणों और अस्मिता-विषयक अवधारणाओं में उत्तर-संरचनावादी है। 'सारि-सारि को गहि लियो, थोथा दियो उड़ाय' से ही इसने अपना मॉडल लिया है और इनकी अगाध गम्भीरता का आकलन तब तक सम्भव नहीं होगा जब तक हम हिंदी में स्त्री-साहित्य की इतिहास-दृष्टि का सही आकलन नहीं करते और उसके नैतिक भूगोल का भी जिसका सीधा संबंध धर्मेतर आध्यात्मिक चेतना से बनता है।

दुनिया के पैमाने पर स्त्रीवादी धर्म-चेतना के तीन शिविर हैं— एक क्रिश्चियन और मुसलमान स्त्रियों के व्याख्याशास्त्र से जुड़ता है, दूसरा बौद्ध स्त्रियों के आत्म-नियोजन से और तीसरा प्रकृति के येन-प्रिंसिपल या दैवी चेतना के आकलन से। भारतीय संदर्भ में देखें तो यहाँ हम थेरीगाथा और भक्त कवयित्रियों की आधुनिक व्याख्याओं के अलावा मिथकों, लोक-परम्पराओं और रीति-रिवाज़ों के स्त्रीवादी विश्लेषण का अध्याय भी जोड़ सकते हैं। भारतीय स्त्री-साहित्य गहरे अर्थों में अंत:पाठीय है और अपनी जातीय स्मृतियों में इसकी जड़ें गहरे धँसी हैं। इस आधारभूत तथ्य की समझदारी ही कुमकुम संगारी, रूथ वनिता, पुष्पा भावे आदि की आलोचना-दृष्टि को परम्परा-प्रक्षालन का धीरज देती है और बार्बरा आई ओन तथा हेली माउण्टेन आदि की काव्य-दृष्टि को *परम्पराओं से अंत: पाठीय संवाद का!* इगेलहार्ट के एक स्थानीय रिवाज़ का उत्खनन करती हुई वे मासिक स्राव से भीगे धागे से पेड़ लपेटने का बिम्ब एक विराट धरातल पर प्रतिष्ठित करती हैं :

औरतों ने बुना है हमेशा,
हम भी बुने जा रही हैं ये धागा परिधि में अपने जीवन की
औरतों ने बुना है समय और विस्तार बुने हैं,
हम भी बुने जा रही हैं ये धागा परिधि में अपने जीवन की
जैसे कि बीज बुनती हैं धरती में हम,

आओ बुनें धागा परिधि में अपने जीवन की
जैसे कि कविता में शब्द बुनते हैं,
आओ बुनें धागा परिधि में अपने जीवन की
जैसे कि बुनती है औरतें हमेशा,
ये धागा बुनती हैं और देवी माँ होती हैं, एकदम से साथ उनके[3]

इसी लय में भक्ति की वीविंग स्वाधीनता विमर्श और ज्ञान की वीविंग संज्ञान से करती हुई हमारी स्त्रीवादी अध्येता आगे बढ़ी हैं ताकि कम-से-कम स्त्री-साहित्य और समीक्षा में 'विशिष्ट' और 'सामान्य', 'शास्त्रीय' और 'लौकिक', 'मैक्रो' और 'माइक्रो' का पदानुक्रम टूटे और नैतिक भूगोल से असम्पृक्त न हो स्त्रीवादी इतिहास-दृष्टि।

II

एक देश में या एक जीवन में जो ऐतिहासिक या नाटकीय मोड़ आते हैं, उनका मंचन दोहरा होता है— एक मंचन युद्धभूमि में, सड़कों पर, भूमिगत दस्तों में, कहवाघरों में, पार्टी-दफ़्तरों, पबों में, अख़बार के दफ़्तरों में, स्कूल कॉलेजों, नाट्य संस्थानों, मंदिरों-मस्जिदों-गिरजाघरों के प्रांगणों में, रजवाड़ों में, संसद में; और उनके समानांतर एक और जगह जिसे घर कहते हैं। जो भी लड़ाइयाँ बाहर लड़ी जाती हैं, जो भी कारिस्तानियाँ बाहर की जाती हैं, उसका यथोचित बखान, उचित सम्पादन के साथ यानी कहीं से बढ़ा कर, कहीं से घटा कर पत्नी-बच्चों, भाई-बहनों-बुजुर्गों के सामने, पुरुष करते हैं। और छने-छनाये उपाख्यान, ये फ़िल्टर्ड नैरेशन स्त्री-मन बाल-मन में ऐसा छायाचित्र रचते हैं जिसमें वह सुना-सुनाया इतिहास अपने ढंग से, दुबारा रचने का संकल्प और धीरे-धीरे अपने रंग भरने लगता है। जो भी सुना गया, उसे अंतर्मन में दर्ज करते हुए भी एक स्वचालित सम्पादन चलता रहा है यानी कि उसकी आलोचना-प्रत्यालोचना चलती रही है, गृहीता के संस्कार कुछ बातों का काल्पनिक विस्तार करते हैं, कुछ का अन्यमनस्क सम्पादन।

स्वाधीनता-संग्राम के दौरान स्त्रियों की जो भी इतिहास-दृष्टि बनी, स्त्री-साहित्य में उसकी परछाइयाँ हैं। यह ऐसा समय था जब स्त्रियाँ गौरव-गाथाओं का और दमनचक्रों का मूक श्रोता-भर नहीं थीं। द्रष्टा, अभिनेता, योद्धा भी थीं। सुने और देखे हुए के बीच का, कल्पना और जल्पना के बीच का फ़र्क़ उस वक़्त के पूरे साहित्य में दर्ज है। सत्य एक बड़े मूल्य, बल्कि हथियार की तरह उभरा था, इसलिए सुने और देखे हुए का, कथनी और करनी का भी फ़र्क़ उतना नहीं था, और हर बड़ा कवि संकल्पसिद्ध मौन में तपने का आदर्श रखता हुआ कुछ ऐसा ही सोचता दीखता था कि वक़्त आने पर दिखा देंगे तुझे ऐ आसमाँ, हम अभी से क्या बताएँ, क्या हमारे दिल में है। आख़िरकार, वक़्त एक बड़ी दराज़, एक बड़ी जेब तो है ही। इंसान अपने संकल्प, अपने सपने और स्मृतियाँ उसी में तहा कर छुपा लेता है, और इंतज़ार करता है उस घड़ी का जब वह अपने पूरे मर्म में उनका उद्घाटन कर पाएँ।

'मनसाचिन्तित कर्मणावचसा न प्रकाशयेत / अल्यलक्षित कार्यस्य यत: सिद्धि न जायते'— स्त्रियों से ज़्यादा इस बात का मर्म कौन समझेगा भला। *विनयपत्रिका* में तुलसीदास सीता से कहते हैं

[3] मिक्वायर बारब्रे और हैली हौमटेन विंज़ (1975), 'अ रिचुअल सेलिब्रेशन', *वुमॅन स्क्रिप्ट 2,* अंक 5, हेमंत, इजुइनॉक्स : 27.

कि माता, उस समय मेरी अर्ज़ी लगाना रघुवीर के आगे जब उनका चित्त प्रसन्न हो, यानी कि मूड ठीक हो। स्त्री से ज्यादा पुरुष का मूड ताड़ने वाला होगा भी कौन! ज़िंदगी मुँह ताकते बीत जाती है। अपनी मनौतियाँ–चुनौतियाँ भी वे उस अभेद्य गाँठ में छुपा कर रखती हैं जिसे देरिदा अपोरिया कहते हैं।

महादेवी का मीरां-पाठ

हर पाठ में एक गुत्थी होती है। उस पर उँगली पड़ते ही सूत्र पकड़ में आ जाते हैं और अर्थ खुल जाता है। पाठ को पाठ के विरुद्ध पढ़ना यानी सीवन उधेड़ कर पाठीय अवचेतन तक पहुँचना आसान हो जाता है। आगे उद्धृत भाषण-शृंखला के मुख्य बिंदुओं में महादेवी की पहली और अंतिम स्थापनाओं की गाँठ में 'सविनय अवज्ञा' और 'अहिंसात्मक प्रतिकार' का वही महाप्रमेय हैं जिसके आलोक में 1930 के आस-पास का पूरा स्त्री-विमर्श समझा जा सकता है।

महादेवी वर्मा सुभद्रा कुमारी चौहान के साथ

महादेवी के मीरां-विमर्श में अपने युग की आहटें साफ़ सुनाई देती हैं : विद्रोह की मीठी धमक, जैसे थोड़ा-सा कहना है, थोड़ा अव्यक्त रख लेना है, पर्दे के ख़िलाफ़ बोलना है पर सर से आँचल गिरने नहीं देना है। कुल मिलाकर कहें तो महादेवी वर्मा की स्थापनाएँ विद्रोह की मर्यादित अभिव्यक्ति की प्रतीककीलित भाषा का भास्वर उदाहरण हैं। मीरां में भी वे विद्रोह का उन्नयन ही देखती हैं : प्रकट विद्रोह के अपने गीतों का साक्ष्य लेकर कहती हुई कि वे सामयिक संदर्भों में बँधे थे, इसलिए काल-कवलित हो गये। निजी संदर्भों के पार वियोग का रूपायन ही असली कला है, यानी वियोग किसी भी आदर्श स्थिति का अभाव है : घर में, सड़क पर, राजनीति में, सामाजिक संकायों में।

महादेवी के मीरां-विमर्श में अपने युग की आहटें साफ़ सुनाई देती हैं : विद्रोह की मीठी धमक, जैसे थोड़ा-सा कहना है, थोड़ा अव्यक्त रख लेना है, पर्दे के ख़िलाफ़ बोलना है पर सर से आँचल गिरने नहीं देना है। कुल मिलाकर कहें तो महादेवी वर्मा की स्थापनाएँ विद्रोह की मर्यादित अभिव्यक्ति की प्रतीककीलित भाषा का भास्वर उदाहरण हैं। मीरां में भी वे विद्रोह का उन्नयन ही देखती हैं : प्रकट विद्रोह के अपने गीतों का साक्ष्य लेकर कहती हुई कि वे सामयिक संदर्भों में बँधे थे, इसलिए काल-कवलित हो गये।

आख़िर हम यह भूलें भी कैसे कि महादेवी वर्मा छायावादी कविता की इकलौती बेटी हैं, सात भाइयों वाली चम्पा की तरह अकेली, गम्भीर और मातृमना। कुछ-कुछ वैसी ही जैसी हमारी दादी की पीढ़ी की ज़्यादातर स्त्रियाँ होती थीं— क़िस्से-कहानियों, गीतों-मुकरियों का सागर, ज्ञान-विवेक की पूरी पिटारी, पर जब जीवन के निजी प्रसंगों की बारी आती, छत्तीस तोले के करधन की तरह वे प्रसंग तकिये की रुई के नीचे कहीं ग़ायब हो जाते। कोई तो बात होगी कि उन दिनों की एक हिट फ़िल्म थी— *मैं चुप रहूँगी* ... महादेवी जी ने तो फिर भी बहुतेरे, उद्‌भट सत्य उकेरे हैं, उन्हें डीकोड करना हमारा काम है।

आत्मसंधान की धुन में घर से निकल पड़ी सब स्त्रियों से मीरां का तादात्म्य सम्भव है, पर यह बात भी अपनी जगह क़ायम

रहेगी कि मीरां का जीवन, उस अर्थ में आधुनिक नहीं है जिस अर्थ की आधुनिकता के हम अन्वेषक हैं। पितृसत्तात्मकता और राजसत्ता के समस्त निषेध के बावजूद मीरां बोलती हैं दास्य भक्ति की भाषा ही। वे एक दोस्त की भाषा तो नहीं बोलतीं और कुमकुम संगारी की तरह औषधि-विज्ञान के शब्द उधार लेकर कहें तो उनके समस्त रूपक 'लो-रिस्क मेटाफ़र्स' ही हैं। यह समझदारी एक तरह की बचाव वृत्ति से आती है और इसका स्पष्ट संबंध सविनय अवज्ञा की भाषिक तकनीक से बनता है। रहना तो प्रतिरोधों के बीच ही है, वहीं रहकर अपनी राह बनानी है एक विधा के रूप में कविता सात पर्दों के पीछे से ऑपरेट करने की अभ्यासी भी रही है। इससे भी मीरां को चिक की एक ओट-सी मिली। पर वहाँ से भी उन्होंने स्फुलिंग तो बिखेरे ही। संक्षेप में कहें तो मीरां का जीवन घर-बार छोड़कर अपने वजूद की खोज में सड़क पर निकल आयी स्त्री का जीवन है, जिसके देह-मन की वे सब दुर्गतियाँ सम्भव थीं, जो व्यवसाय या वजूद या अपने से ऊपर किसी अन्य की तलाश में घर से निकल आयी लड़कियों की होती हैं। (घर छोड़कर तो मैं ऐसे कह रही हूँ जैसे घर में दुर्गति नहीं होती। होती वहाँ भी है। खुद मीरां की दुर्गति राजमहल में कम नहीं हुई थी। पर सड़कों के ख़तरे और विकट हैं। ताड़ से गिरे खजूर पे अटके वाला खजूर भी नहीं हैं सड़क। कोई अटकन भी नहीं होती वहाँ। फुटबॉल हो जाती है औरत। अनंत हो जाता है उस पर लगने वाली शार्प किकों का सिलसिला।)

मीरां या मदर टेरेसा, या इस तरह की अन्य औरतों की बचाव-वृत्ति का एक आज़माया हुआ अस्त्र है लिंग-चेतना से ऊपर उठ जाना। पर जैसा कि कुमकुम संगारी[4] का अंतर्दृष्टिपूर्ण लेख भी बताता है, मीरां जैसी भक्त कवियों की एक समस्या है— पितृसत्तात्मक षड्यंत्रों का एक घेरा तो वे लाँघ लेती हैं, स्वयंवरा हो जाती हैं पर पितृसत्तात्मकता का हल्का अख्यांतरण उनमें भी होता है। तभी तो वही दास्यभक्ति आरोपित कर देती हैं अपने कृष्ण पर भी, जिसे काट कर वे आगे बढ़ी थीं। जो शुरू में एक सखा की तरह, वर्ग-जाति आदि कृत्रिम विभेदों के ऊपर उठे एक दोस्त की तरह उन्हें आकर्षित करता था, उससे भी एक दोस्त की भाषा में वे बात नहीं कर पातीं। सिमोन द बोउवार और सार्त्र की दोस्ती मशहूर है, मगर हाल-फ़िलहाल बोउवार जैसी स्त्री के अपने एक अनाम प्रेमी के नाम लिखे कुछ पत्र प्रकाशित हुए हैं, जिनकी भाषा दास्य-भक्ति की भाषा है। तो क्या मुक्ति एक क्रमिक प्रक्रिया है जो कभी पूर्ण नहीं होती— एक मुसलसल सफ़र कि मंज़िल पे पहुँचे तो मंज़िल बढ़ा दी। यहाँ लगातार चौकसी ज़रूरी है। रामभरोसे बैठ कर जग का मुजरा लेने-भर से बात नहीं बनती, यहाँ ख़ुद भी तलवार की धार पर चलते रहने का संकल्प साधना पड़ता है। क्या सचमुच बड़ी कठिन है डगर पनघट की ? या 'चाकर राखो जी', और 'लीनो मोल' की आपसदारी मनुष्य मन की एक अंतरंग वृत्ति है, जिसका कोई निस्तार नहीं। चलिए, इतनी भी ग़नीमत है कि कोई एक तो हो इस धरती पर जो चाकर राखो मगर 'तराजू पर तुलने' और 'मोल लिये जाने' के बाद।

मीरांबाई और अन्य स्त्री भक्त-कवि

वैसे तो 'हेज़ियोग्राफ़ी' का अर्थ संतों की जीवनी होता है, पर इंग्लैण्ड में हेज़ियोग्राफ़ी परम्परा के तहत ज़्यादातर कथाएँ (अपनी ख़ूबसूरती से तबाह) स्त्रियों के नन बनने या बना दिये जाने के कारुणिक प्रसंगों के इर्द-गिर्द बुनी गयी हैं। इनके पन्ने पलटते हुए बुद्धकालीन थेरी गाथाएँ बरबस याद आती हैं, जहाँ धम्म का वरण मूलत: स्वैच्छिक है।

---

[4] कुमकुम संगारी (2012), *मीरांबाई और भक्ति की आध्यात्मिक अर्थनीति,* अंग्रेज़ी से अनुवाद : अनुपमा गुप्ता, वाणी प्रकाशन, दिल्ली : 63.

पर पूरे मध्य एशिया और भारत में भी कई बार महिला संत धर्म को, धार्मिक संरक्षण को एक खोह की तरह भी इस्तेमाल करती दीखती हैं। जैसे चिड़िया बाज़ों की क्रूर फड़फड़ाहट से परेशान होकर खोह में चली जाती है, बहुत सारी महिलाएँ संत, धर्म की शरण में गयीं, हालाँकि इस खोह में भी साँप कुण्डली मारे पड़े थे। ताड़ से गिरे, खजूर पे अटके। चलो, अटके तो। धम्म से गिरे तो नहीं। हड्डी नहीं चटकी। एक आश्रय तो मिला। एक क़द-काठी मिली। तात्कालिक मुक्ति का एहसास हुआ। एक वैकल्पिक स्पेस की नींव पड़ी, जो अपेक्षाकृत सुरक्षित और दुनियावी जंजालों से मुक्त एक प्रायः स्वतंत्र स्पेस था। आज भी है। आज भी पूरे घर में पूजाघर ही एक स्पेस होता है जहाँ स्त्रियाँ थोड़ी देर निश्िंचत बैठ सकती हैं हालाँकि 'दूध ले लो', 'टिफ़िन बना दो', 'अख़बार लाओ' की खटर-पटर वहाँ भी मचती रहती है। एक तरह से देखा जाए तो ये पूजाघर ही स्त्रियों का बैंक, डाकघर, घरौंदा, तकिया, खेल का मैदान और टेलीफ़ोन-एक्सचेंज हैं। हमको मालूम है जन्नत की हक़ीक़त, लेकिन दिल को ख़ुश रखने को ग़ालिब ये ख़्याल अच्छा है :

अच्छी विमुक्त हुई।
तीन टेढ़ी चीज़ों से
अहा, मैं मुक्त हुई
ओखली से, मूसल से
अपने क़ुबड़े पति से
भली ही विमुक्त हुई।
गया, मेरा निर्लज्ज पति गया
जो मुझको उन छातों से भी
तुच्छ समझता था
जिन्हें वह बनाता था
अपनी जीविका के लिए।

–सुत्तपिटक, थेरी गाथा (सुमंगला माता)[5]

धर्म भी एक छतरी ही था। धर्माधिकारी भी निर्लज्ज पति की श्रेणी में आते थे। धर्म की छतरी मरोड़-भींच कर उसका एक डंडा भी बना लिया गया था, स्त्री की पीठ पर टूटने वाला विकट दंड। यूनान और रोम के प्राचीन वैभव और पुनर्जागरणकालीन (व्यक्ति-केंद्रित) चतुर्दिक अभ्युदय के बीच काले नद-सा बहता यूरोपीय मध्यकाल कई नये परिवर्तनों का वाहक भी था। महारानी एलिज़ाबेथ का समय पुनर्जागरण कहलाता है, किंतु उसके पहले की अवस्था घोर सुषुप्तावस्था नहीं थी। बहुत सारी नयी संस्थाएँ जग-बन रही थीं, जो किसी-न-किसी रूप में अब तक हमारे बीच जीवित हैं। इनकी एक सूची बनाने चलूँ, तो लम्बी हो जाएगी, पर कुछ महत्त्वपूर्ण अवधारणाएँ/संस्थाएँ गिनाना तो ज़रूरी ही है जिनका सूत्रपात मध्ययुग में हुआ : विश्वविद्यालय, क़ानूनी संहिताएँ, रोमानी प्रेम, आधुनिक भाषाएँ, राजनीतिक सीमाएँ, राष्ट्र-राज्य, व्यापारी शहर, बैंक, चेक, गोली-बारूद, कम्पास, बुक-कीपिंग, चश्मे— सब मध्ययुग की ही देन हैं।

पर मध्यकाल की स्त्री-दृष्टि शोचनीय थी। उपदेशों, आचार-संहिताओं, कहावतों, पाठ्यपुस्तकों, औषधि-विज्ञान के ग्रंथों, संत-कथाओं और रोमांसों में भी धड़ल्ले से मध्य युग स्त्रियों को कोंचता

---

[5] भरत सिंह उपाध्याय (2010), *थेरी गाथा,* गौतम बुक सेंटर, दिल्ली : 15.

था। तीन तरह के अभियोग लगते थे स्त्री-समाज पर जिनसे ऊब कर स्त्रियाँ धर्म की राह चल देती थीं। पहला तो यह कि स्त्रियाँ बेहद भौतिकतावादी, देहवादी, भोगप्रिय होती हैं। एक मुर्गा पंद्रह मुर्गियों को यौन-तुष्टि देता है, पर पंद्रह मर्द मिलकर एक स्त्री को यौन-तृप्ति नहीं दे सकते।[6] दूसरा अभियोग यह था कि स्त्रियाँ भाषा का कचूमर निकाल देती हैं। झूठ बोलने, बक-बक करने, गप्प हाँकने, झगड़े और फ़रियाद करने में। 'सिटी ऑफ़ लेडीज़' की शुरुआत में ही क्रिस्टीन लिखते हैं कि एक झगड़ालू चंट बीवी की चाँय-चाँय गिरजाघर के घंटे का निनाद भी ढँक लेती है।[7] तीसरा अभियोग यह कि साज-सिंगार और दिखावे में स्त्रियों की गहरी रुचि होती है। उनका ज़्यादातर समय इसमें ही बीत जाता है कि बाहरी आकर्षण कैसे बनाये रखा जाए। आंतरिक गुणों के विकास पर इनका ध्यान ही नहीं जाता। इन तीनों अभियोगों का एक ही प्रतिकार था— संत बनकर दिखा देना। ईव का चोगा छोड़कर मदर मेरी, वर्जिन मेरी का झिलमिल आवरण डाल लेना, स्त्री-काया पर, कामनाओं पर सिटकिनी-सी चढ़ा देना। घर में रहकर तो यह सम्भव नहीं था। घर से बाहर बस दो ही दरवाज़े थे— एक गिरजाघर का, दूसरा चकलाघर का। पहला विकल्प दूसरे से बेहतर था, पर मज़ेदार बात यह है कि 'ननरी' दोनों को कहा जाता था।

सेंट ओड ने शादी की ज़हमत से बचने की ख़ातिर अपनी नाक काट ली थी। एप्रिक एक मठ में रहने आयी तो मर्द वेश में। क्रिस्टिना मार्गरेट की माँ ने तो प्रतिज्ञा ली थी कि उनकी जिद्दी लड़की का कौमार्य-भंग किसी तरह कोई कर दे तो उसे वे मोतियों से तौलें। उनके पिता ने कहा था कि 'परम्परा से प्रयाण की उसकी हिम्मत ही कैसे हुई, अपनी इज्ज़त बचा कर बाप की इज्ज़त सड़कों पर नीलाम करती है। एक साधारण लड़की की यह मजाल कि वह वर्जिन मेरी बनना चाहे।' एक साधारण लड़की की मजाल तब भी दुनिया देखती थी, अब भी दुनिया देखती है। साधारण की शक्ति हरदम असाधारण होती है। पूरब में, पश्चिम में, उत्तर में, दक्खिन में। परम्परा से प्रयाण करने वाली स्त्रियाँ हर जगह, हर समय रही हैं, पर पहले इसका एहसास सर्वव्यापी नहीं था कि 'हाय राम, कुड़ियों का है ज़माना'। पहले ज़माना कुड़ियों का नहीं था, गुड़ियों का था। इसलिए इक्का-दुक्का विशिष्ट संतों ने मुक्ति की चेतना पायी। अब मुक्ति का अर्थ और व्यापक हुआ है। साधारणीकरण हो गया है इसका। इस अर्थ में कि आँगन-चौबारे, गली-मुहल्ले, खेत-खलिहान, दफ़्तर-कारख़ाने, देवालय, वेश्यालय हर जगह की स्त्री मीरां के घुँघरुओं की तरह एक नयी तरह के मुक्ति-संगीत के तबोताब में ठनक उठी है।

सोलहवीं शताब्दी की राठौर राजकुमारी मीरां मेवाड़ के सिसौदिया परिवार में ब्याही गयीं। बिन माँ की बच्ची जितना प्रतिरोध कर सकती है, किया। उनके बाल-मन में कृष्ण की छवि बसी थी। मरने से पहले माँ ने कभी खेल- खेल में समझा दिया होगा कि वह कृष्ण की परिणीता है तो अब वह यह मानने को तैयार नहीं थी कि बिना दोष के पहला पति छोड़े क्यों और दूसरा ब्याह क्यों रचाए? रचा भी ले तो उसके इशारों पर क्यों नाचे, उसकी कुलदेवी क्यों पूजे, अपने हरि की तलाश में डगर-डगर क्यों नहीं घूमे, संतन ढिंग बैठ-बैठ हरि-चर्चा में रस क्यों न पाए! मंडी हाउस, विश्वविद्यालय, शोध-संस्थान, अख़बार और टीवी के दफ़्तरों, पुस्तकालयों के कैफ़े और चाय-ढाबों में आधुनिक स्त्रियाँ कला-साहित्य चर्चा में जो रस पाती हैं, दरअसल उसी रस का परिपाक है जो मीरां को हरि-चर्चा में मिलता होगा। 'संतन ढिंग बैठि-बैठि लोकलाज खोई' का दंश अब भी स्त्रियों की जान खा जाता है। सीधे मुँह किसी से बात की नहीं कि लोक-कम्प्यूटर में शयन-कक्ष और स्नान-गृह तक की अटकलें दर्ज हो जाती हैं!

---

[6] हीड केंड (1964), *कैंटरबरी टेल्स,* बेंटम बुक्स, यूके : 64.

[7] वही.

'सूली ऊपर सेज पिया की' कहती हुई मीरां जल्पना के ऊपर कल्पना की ही प्राण-प्रतिष्ठा करती नज़र आती हैं और विच्छिन्न यथार्थ के ऊपर एक सम्पन्न आदर्श लोक, एक यूटोपिया की! आधुनिक स्त्री-यूटोपिया धर्मेतर अध्यात्म (सबलाइम) की जो अवधारणा सामने रखता है, उससे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि स्त्रीवाद और धर्मोन्माद सौतेली शक्तियाँ हैं! अंधी आधुनिकता के दोनों विरोधी हैं, सांस्कृतिक प्रतिनिधित्व के साधनों पर दोनों की दृष्टि है, पर धर्मोन्माद उन पर असंगत एकाधिकार चाहता है। और स्त्रीवाद, ठीक इसके विपरीत, यह कामना करता है कि साधनों और अवसरों का सम्यक(प्रजातांत्रिक) आवंटन हो (सिर्फ़ कामना ही नहीं करता, अनवरत कोशिशें भी करता है कि यह हो)। एक और बुनियादी फ़र्क़ दोनों में यह है कि परम्परा से रूढ़ियाँ चुन-फटक लेने की तमीज़ जैसी स्त्रीवाद के पास है, धर्मोन्माद के पास नहीं! इस क्रम में महादेवी की पहल अपने एकांत को, अपने-आपको ही चीरकर दो भागों में बाँटने और अपने-आपसे संवाद क़ायम करने की महत्त्वपूर्ण पहल है। दाम्पत्य के क्लेशों को लेकर लम्बा-चौड़ा शिकायतनामा दर्ज करने के स्थान पर महादेवी इक्कट-दुक्कट में निष्णात बच्ची की तरह कड़वे यथार्थ के विषम चौखटे साफ़ लाँघ जाती हैं और कल्पित आदर्श के साथ-साथ ख़ुद अपने से जो नया संबंध क़ायम कर लेती हैं, वह कम साहस का काम नहीं।

सुभद्राकुमारी चौहान ने वीर और वात्सल्य रसों को महादेवी की करुणा से अलग एक पहचान दी। यह उनका बड़ा अवदान है। रस-निक्षेप की दृष्टि से और शब्द-चयन के निकष पर भी स्त्री-कविता का परिवृत्त बड़ा करने का श्रेय उन्हें जाता है। काव्य-भाषा की जकड़न खोलने में, उसे बातचीत की भाषा के क़रीब लाने में सुभद्राकुमारी की कविताओं की बड़ी भूमिका है। यही काम पाँच दशक पहले भक्त कवयित्रियों ने किया था, विशेषकर मीरांबाई ने। पर स्त्रियों के कामना-विमर्श की दृष्टि से मीरां की कविता महादेवी की कविता से सीधी जुड़ती है। कैसे, यह हम आगे देखेंगे।

कंकरीट की सड़कें और मीरांबाई : मनचीते पुरुष का संधान

मीरां का स्त्री-पाठ चार-पाँच स्तरों पर सम्भव है : भाषा और शिल्प के स्तर पर, घरेलू राजनीति के संदर्भ में, लोक-लाज और लोक-निंदा के प्लेटफ़ॉर्म पर और पुरुष-सौंदर्य और पुरुष-आचरण की मीमांसा के स्तर पर।

अंतिम बात से ही शुरू करती हूँ। कैसा पुरुष किसी भरी-पूरी और संवेदनशील स्त्री का मनचीता हो सकता है, यह प्रश्न पिछले पचास बरस से अपने हिंदी प्रदेश में भी रुई की बुइयों की तरह हवा में हिलोरें ले रहा है। आधुनिक स्त्री की मुख्य चिंताओं में एक चिंता यह भी है कि क्या खा कर वह एक मरखंड, गरियंडे, उद्धत-उद्दंड और हिंसक पुरुष से प्यार करने का जज़्बा जगाये। धर्म-भाव से किसी पर करुणा बरसायी जा सकती है, सेवा-उपचार और स्नेह उँड़ेला जा सकता है। पर प्रेम एक ज़िद्दी एहसास है। उस पर ज़बर्दस्ती नहीं चलती। वह किसी की नहीं सुनता। समर्पण इतना विराट भाव है कि हर ऐरे-गैरे, नत्थू-खैरे के आगे वह घटने से रहा।

साहचर्यजन्य स्नेह तो सम्भव है। लगातार पीछे पड़े रहिए, तो ऊबकर या दया-विगलित होकर स्त्री आपसे दो बोल बोल सकती है। पर बहुधा वे बोल प्रेम के नहीं, स्नेह और सद्भाव के होते हैं। 'याचना' का उत्तर 'दान' तो हो सकता है, समर्पण नहीं। अपना समय, अपना साथ किसी को मानवीय धरातल पर भी दिया जा सकता है। उसको ही प्रेम समझने की भूल पुरुषों से होती रही है। बौद्धिक या आत्मिक सत्संग की ख़ातिर सड़क पर आयी स्त्री को प्रणय-निवेदन के लिए स्वतंत्र घूमती स्त्री समझ लेने की भूल एक आम भूल है। मीरां उसका अच्छा प्रत्युत्तर देती हैं— 'अच्छा तो तुम भी पुरुष हो' ... । लिंग चेतना से मुक्त करने वाली निरपेक्षता पुरुषों के हिस्से बहुत कम आती है, क्योंकि उनके मन

अपना समय, अपना साथ किसी को मानवीय धरातल पर भी दिया जा सकता है। उसको ही प्रेम समझने की भूल पुरुषों से होती रही है। बौद्धिक या आत्मिक सत्संग की ख़ातिर सड़क पर आयी स्त्री को प्रणय-निवेदन के लिए स्वतंत्र घूमती स्त्री समझ लेने की भूल एक आम भूल है। मीरां उसका अच्छा प्रत्युत्तर देती हैं— 'अच्छा तो तुम भी पुरुष हो' ... ।

में युगों से बैठाया गया है कि स्त्री और ज़मीन क़ब्ज़ा करने की चीज़ें हैं। सत्संग के लिए, बौद्धिक-आत्मिक विमर्श के लिए पास आयी स्त्री भी उन्हें सिर्फ़ देह दीखती है और स्त्री की स्थिति यह कि ताड़ से गिरे, खजूर में अटके।

अभगलो गइलन बरियात, उहऊँ मट्ठा भात!

लोक-मंडल की बात तो चलिए, बाद में करते हैं। युगों तक स्त्रियाँ मरती, क्या न करतीं, या 'जो मिल गया, उसी को मुक़द्दर समझ लिया' के भाव से कुटिल-खल-कामी पतियों की भी सेवा करती गयीं। लेकिन, हाँ, सेवा ही, प्रेम नहीं। प्रेम के लिए पात्रता चाहिए। कोई तो बात हो जो अभिभूत कर दे। मसलन कि संयम, शालीनता जो पुरुषों में सबसे नायाब होती है। जैसा कि पहले भी कहा, आप सोचकर देखिए कि स्त्रियाँ शंकर या बुद्ध जैसे जोगियों की ओर क्यों आकृष्ट होती हैं। इसलिए कि वे उनके पीछे नहीं पड़ते, स्वयं को स्वयं में ही धारण करके धैर्यपूर्वक दूसरों का दुख दूर करने का धीरज उनमें होता है। काम-क्रोध-लोभ के अतिरेक से पीड़ित व्यक्ति से प्रेम कर पाना असम्भव है—ख़ासकर मीरां जैसी संवेदनशील स्त्री के लिए जिसके मन में बृहत्तर संधान पक चुका है, कोई और ही धुन बज रही है।

प्रेम के लिए नैतिक परिष्कार पहली शर्त है। डाकू से भी प्रेम होता है। क्यों नहीं होता। लेकिन उस डाकू से जो दानी है, एक तरह का रॉबिनहुड; एक तरह का गॉडफ़ादर। प्रेम आदर्श से ही सम्भव है। समझा तो स्त्रियों ने पहले भी होगा, पर हब्बा ख़ातून, अण्डाल, लल्ल देद, अक्क महादेवी, जनाबाई, बहिनाबाई, मीरांबाई आदि भक्त कवयित्रियों ने डंके की चोट पर पहले-पहल यह कहने का साहस किया कि आस-पास जैसे अबंड पुरुष दीखते हैं, काम्य नहीं हो सकते। हमें तो कृष्ण या शिव जैसा कोई योगी चाहिए। एक यूटोपिया, एक काल्पनिक विकल्प ही हैं देवता, और क्या हैं। दानवीर, कर्मवीर, स्थितप्रज्ञ, न्यायप्रिय हो कोई। सारे विकारों से मुक्त, तो हम खुलकर उसका वरण करें : आत्मा स्वयं अपना स्वयंवर रचाए, एमिली डिकिंसन के शब्दों में कहें तो : द सोल सेलेक्ट्स इट्स ओन सोसाइटी।[8]

सच पूछिए तो काम्य पुरुष और पुरुष-आचरण का एक खाँचा, एक ब्लू प्रिंट-सा देती है मीरां की कविता। थोड़ा-सा रूप-वर्णन तो वह करती है, लेकिन असल आकर्षण का स्रोत कृष्ण का लोकरंजक स्वरूप है : दीन-दुखियों के सहायक, लीलामय, पुरमजाक़, संगीतपटु, अहिंसक, स्थितप्रज्ञ, रणछोड़ की लालित्यमय छवि ही क्यों मीरां को भाती है, समझने की बात यह है। मीरां का समय हमारे समय की तरह ही एक युद्ध-कातर समय और हिंसा-विह्वल समय था। ऐसे में हर राजपूत कन्या से अपेक्षा की जाती थी कि वह हाड़ा रानी की तरह थाल में सर रख कर प्रस्तुत कर दे ताकि मोह से मताया पुरुष निश्चिंत युद्ध जीतने चला जाए। पर मीरा एक ऐसे गढ़ंत, एक ऐसे कंसट्रक्ट का वरण करती हैं जो धर्म-युद्ध को अंतिम उपाय मानता है, और ऐन युद्धभूमि में लगता है गीता बाँचने यानी साहित्य-कला-दर्शन का आश्रय वहाँ भी नहीं छोड़ता; और ख़ुद के लिए जिसका प्रण है कि वह हथियार नहीं उठायेगा, मनोवैज्ञानिक युद्ध लड़ेगा, भाषा ही जहाँ हथियार बनती है।

---

[8] एमिली डिकिंसन (1970), *एक्ट्स ऑफ़ लाइट,* नैंसी बर्कर्ट और जेन लैंग्स्टन (सम्पा.), न्यूयार्क ग्राफिक सोसाइटी : 100.

यहीं हम उठाते हैं भाषा-शैली का प्रश्न। मीरां का युद्ध भी एक मनोवैज्ञानिक युद्ध है, जहाँ भाषा हथियार बनती है। एक स्त्री के पास भाषिक हथियारों के सिवा कौन से हथियार होते हैं भला! और किसी भी मनोवैज्ञानिक युद्ध में वे ही हथियार काम भी आते हैं : अभिधा, लक्षणा, व्यंजना—तीनों की ताक़त अलग-अलग टोनल वैविध्य या स्वर-भंग के साथ आजमाती हुई सड़क पर अपनी बचाव-वृत्ति में साधनहीन स्त्रियाँ भी मंचित कर लेती हैं। कुएँ पर, पानी के नलके पर, राशन की क्यू में, सरकारी अस्पताल के क्यू में, जंगल-पहाड़ पर, मिल में, फ़ुटपाथ पर समोसा-नमकीन बेचती हुई स्त्रियों की भाषा के कई जानदार मुहावरे तो ख़ुद मैंने नोट किये हैं। कोई भी कर सकता है यदि उनसे अंतरंग बातचीत गाँठे, उनसे दोस्ती करे। अक्क महादेवी और मीरांबाई के साथ मुश्किल यह थी कि सड़क पर आने के पहले सड़क का जीवन उन्होंने देखा नहीं था। वे महलों से सीधी सड़क पर चली आयीं। महलों में या किसी भी सामंती बंदिश में रहने वाली स्त्रियाँ कैसे वाक्य बोलने की अभ्यासी होंगी, ज़रा ठहर कर सोचें : आदेशात्मक वाक्य जिसे अंग्रेज़ी में इम्पेरेटिव मूड का वाक्य कहते हैं या फिर कोई अच्छा दृश्य देख या कोई कथा सुनी तो विस्मयादिबोधक वाक्य!

पर मीरां की भाषा किसी पद्मिनी नायिका की वैभवदिग्ध, व्यंजनाबोधक भाषा नहीं है। ज़्यादातर पद अभिधा की ताक़त का ख़ासा बेधक प्रयोग लेकर सामने आते हैं। सामान्य स्त्री की खरी-खरी बातों का जायज़ा वहाँ मिलेगा। कोई लाग-लपेट नहीं, कोई कताई-बुनाई नहीं, कहीं-कहीं ही रूपक और बिम्बन का तबोताब है। पर उसकी बात बाद में करेंगे, पहले इन धड़ से सुना दी गयी बातों का मर्म समझें :

नहिं भावै थारो देसलड़ो रंगरूड़ो।
लोग बसै सब कूड़ो।
थारे देसां में राणा साध नहीं छैं,
त्याग्योर से चूड़ो।

गहना-गाठी राणा हम सब त्यागा,
काजल टीकी हम सब त्यागा, त्याग्यो छै बंधन जूड़ो।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, बरपायोछै पूरौ।[9]

सिंगार-पटार और स्त्रीसम्मत विशिष्ट अनुभूतियों की चर्चा पग-पग पर है; पर लगातार यह एहसास बना हुआ है कि मनमोहन का मन सामान्य गहने-कपड़ों से थोड़े जीता जाना है। वह सामान्य पुरुष नहीं, कोई सामंत नहीं, उसको तो भायेगा :

ओडया लज्जाचीर, धीरज को घाघरौ
छिमता कांकण हाथ, सुगमत को मूंदड़ो
दिल दुलड़ी दरियाव साँच को दोवड़ौ
उबटन गुरु को ज्ञान, ध्यान को धोवणौ
साँवलिया सूँ प्रीत, औरां सूँ आखड़ी।[10]

विशिष्ट अनुभूति के क्षण रूपक तो नहीं, लेकिन उपमानों की एक झड़ी-सी लग गयी है। वहाँ कल्पना दो धरातलों पर लगातार काम कर रही है : आकाश और धरती के बीच जैसे लगातार सुधियों

---

[9] अरुण चतुर्वेदी (सम्पा.) (2006), *मीरां : एक मूल्यांकन,* श्याम प्रकाशन, जयपुर : 238.
[10] मुकुंद लाठ द्वारा पल्लव के साथ हुई बातचीत (जयपुर, 2002) में उद्धृत।

की बारिश हुई हो। (बारिश के नाम से याद आया कि रेगिस्तान में जन्मी यह स्त्री, अपने घनश्याम की चर्चा, उसके मोरपंख की चर्चा, पपीहे की चर्चा में विशेष सुख पाती होगी।) भावनाओं का एक सुखाड़ ही है, जिसके प्रत्युत्तर में मीरां की कविता 'सावन के घन' की आतुरता से स्त्री-जगत के प्रत्यक्ष अनुभवजगत (कोड) के आकाश में उमड़ी। चरखा, मटका, चूल्हे की आग वग़ैरह की चर्चा भी पग-पग पर है। नाच-गान की अलग मुद्राएँ और स्वरलिपियाँ भी हैं ही। 'लियो जी तराजू तोल' आदि पदों में खोमचा-कबाड़ी आदि से घरेलू क्रय-विक्रय वाले जीवंत प्रसंग हैं और स्त्री भाषा का वह आनन्दातिरेक भी जिसे न कोई उपदेश झाड़ना है, न ज्ञान बघारना है। एक प्रतिकूल परिवेश में अनुभव से अर्जित आत्मज्ञान डंके की चोट पर, बिना किसी कुहेलिका के, मीरां सामने रख देती हैं—

बादल देख झरी हो, स्याम मैं बादल देख झरी।
काली-पीली घटा उमंगी, बरस्यो एक घरी,
जित जाऊँ तित पानिहिं पानी, हुई सब भोम हरी।
जा का पिव परदेस बसत है, भीजै वर खरी।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, कीज्यो प्रीत खरी।[11]

मीरां ने खरी प्रीत की थी। वे हर जगह बरस जाने वाली बदली नहीं थीं। एक के बहाने सारी सृष्टि अच्छी-अच्छी लगने लगे, यह बात अपने-आप में दुरुस्त है, पर अच्छी-अच्छी लगने का मतलब स्नेह-सद्भावपूरित होना है, सर्वस्व समर्पण नहीं। सर्वस्व समर्पण की ज़िद तो कभी करनी ही नहीं चाहिए। होना होगा तो वह स्वयं घटित होगा। सर्वस्व समर्पण दाल-भात का कौर नहीं है। जो ओस चाट कर, अलग-अलग जगह बिखरी बूँदें चाट कर प्यास बुझा लेने की एषणा रखते हैं, उनको मीरां जैसी बागी संत कवियों की एक ही सलाह है कि 'धीरज' का घाघरा धारें और लज्जा का चीर। ओस चाटने से प्यास नहीं बुझती। अधीर न हों, इंतज़ार करें। 'धीरज' का घाघरा चुन्नटदार है, उसका घेरा अनंत है, पर उसको धारे बिना यूटोपिया नहीं मिलता, कोई आदर्श नहीं मिलता। जो चट से मिल जाए, वह माया है। सत्य वह है जो अर्जित किया जाए। क्षमता का कंगन और सुमति की अँगूठी धारण करके ही सत्य से मिला जा सकता है, पर सत्य-संधान के पहले छोटे लोभों की मैल ज्ञान के उबटन से छुड़ानी होगी और दिल को दरिया करना पड़ेगा। नेकी कर और दरिया में डाल। बहता पानी निर्मला। किसी भी यूटोपिया, किसी भी सत्य का संधान एक तपस्या है।

सत्य कब मिलेगा, यह तो तय नहीं है। पर सच्चे संधान की प्रक्रिया में हैं आप तो हो सकता है वह आर्किमिडीज़ की तरह, पानी में, टब में अन्यमनस्क भाव से नहाते हुए आपके मन में अचानक कौंधे, एक आइडिया की तरह। एक आइडिया, एक विचार जो दुनिया बदल दे, आपके सारे प्रश्नों का हल ढूँढ़ने में आपकी मदद कर दे और आप मीरां की तरह, आर्किमिडीज़ की तरह, अक्क महादेवी की तरह एकदम से सड़क पर दौड़ जाएँ, यूरेका-यूरेका कहते हुए, बल्कि गाते हुए, जैसे मीरां गाती हैं।

मीरां की कविता यूरेका की कविता है, सब भक्त कवियों की कविता, यूरेका की कविता है। लम्बे चिंतन-मनन के बाद, मन में लगातार मथानी चलाने के बाद जो अवक्षेपित होता है, उस नवनीत में जीवन का सार, जीवन की स्निग्धता तो होगी ही, उतनी ही भारहीनता भी होगी। बहुत फिंटी हुई बड़ी हलकी हो जाती है। फिंटे हुए बेसन, मन, मक्खन का हलकापन क्लिष्ट विचारों से उद्भूत सरल प्रमेयों में भी होता है। भक्त कवि इस सरलता का अमरित चखकर ही बड़े होते हैं, इतने स्निग्ध और इतने सरल। सरल होना दुष्कर है, बहुत-बहुत दुष्कर। येट्स की कविता के तीन चरण इसका प्रमाण

[11] अरुण चतुर्वेदी (सम्पा.) (2006): 242.

हैं। सरल रेखा या पूर्ण शून्य खींच पाना पिकासो जैसे बड़े चित्रकार के लिए ही सम्भव है। सरल रेखा दो बिंदुओं के बीच की निकटतम दूरी है। वक्रता दूर करती है, अपने ही लक्ष्य से, अपने ही यूटोपिया से, अपने प्रियतम से। यह बात भी मीरां की कविता अपने पूरे बाँकपन में सामने रखती है, बाँकपन कहीं-कहीं है, भ्रू-भंग भी है ही— लेकिन है वह मध्यावधि अवस्था ही। अंतिम बात अकाट्य सरलता है। सत्य है तो सरल होगा ही, कम-से-कम आयतन घेरेगा, कम-से-कम शब्द कहेगा जैसे मीरां की कविता कहती है। बहुत लम्बे-चौड़े भाष्य का कोई स्कोप ही नहीं बनता। मन मस्त हुआ तो क्या बोले।

सरलता का उत्स एक मग्न क़िस्म की आपसदारी है और बृहत्तर दुनिया से अपना सुख साझा करने की उमंग भी। उमंग भी हमेशा सरल होती है, नंगे पाँव दौड़ा देने वाली— 'आवत ही हरषें नहीं, नैनन नहीं सनेह/तुलसी वहाँ न जाइए, कंचन बरसैं मेह।' कहाँ नहीं जाना है, इस विवेक से परिचालित है स्वाधीनता। सच्ची स्वाधीनता हमेशा विवेक से, संयम से संचालित होती है। पर वह विश्लेषण करने नहीं बैठ जाती। अगर किसी को राह सुझाती भी है तो इशारों में सुझाये, जिसमें पात्रता होगी, जो लाल बुझक्कड़ होगा, बूझेगा। लाल बुझक्कड़ होने की, 'जित देखौं तित लाल की' पात्रता भी चाहिए। पश्चिम की भक्त कवयित्रियों से लेकर अपने यहाँ तक की भक्त कवियित्रियों में यह विवेक है। इसलिए उनकी कविता ज्ञानबोझिल, दर्शनबोझिल नहीं है। उसमें सार-संक्षेप है, निष्कर्षों का गाम्भीर्य, विवेक का गाम्भीर्य, एमिली डिकिंसन कहती हैं :

यह मेरी चिट्ठी है दुनिया को, जिसने कभी मुझे लिखा नहीं वापस![12]

यह संवाद की एकतरफ़ा पहल है, एक तरह का एकालाप। जिसमें पात्रता होगी, इसका मर्म ख़ुद ही समझ लेगा।

अब आते हैं घरेलू राजनीति और लोक-लाज वाले पक्ष पर। मीरां के कई पद भाई, सास, देवर और ननद ऊदाबाई को सम्बोधित हैं:

ऊदाबाई मन समझ जाओ अपने धाम
राजपाट भोगो तुम ही हमसे न तासूं काम

डॉ. पद्मवती शबनम मीरां की ननद, ऊदाबाई की तरफ़ से गाया हुआ एक पद गाती हैं :

थाथो बरज-बरज मैं हारी,
भाभी मानो बात हमारी।
राने रोस किया था पर साधो में मत स्त्री।
कुल को दाग लगै छै भाभी, निंदा हो रही भारी।
साधो के संग वन-वन भटकी, लाज गँवाई सारी,
बड़ा घरा में जनम लिए छै नाचौ दे दे तारी।[13]

इस जैसी समस्त सलाहों और डाँट-डपट के प्रतिकार में मीरां हँसकर अपनी बात रखती हैं, सहज भाव से रखती हैं, बहनापे के भाव से रखती हैं। उनका बहनापा द्रौपदी और भीलनी तक से जुड़ता है। सड़क पर हुए विकट अनुभव अपने कई पदों में वे साझा करती हैं : वे उन्हें बताती हैं कि सड़क का जीवन जीते हुए खल-कामियों से वे कैसे निबटीं :

---

[12] एमिली डिकिंसन (1970): 49.

[13] अरुण चतुर्वेदी (सम्पा.) (2006): 244.

विषयी कुटिल एक भेषधारि साधु लियो।
कियो यों प्रसंग मोसों अंगसंग कीजिए।
आज्ञा मोको दई आप गिरधारीलाल।
अहोशीष यदि लई करि भोजन हूँ लीजिए।
असमनि समाज में बिछा लेजि बोलि लियो
सक अब कौन की निंदक रस भीजिए।
खेत सुख-भयौ, विषै भाव सब गयो,
तयो वाचन तै आप, मोनो भक्तिदान दीजिए।

यह पद लक्षण और व्यंजना की पराकाष्ठा है। जिसे अशोभन प्रस्ताव (इंडीसेंट प्रपॉज़ल) कहते हैं, उससे स्त्रियाँ कैसे निबटें, इसके कुछ सूत्र आपको यहाँ मिल जाएँगे। मीरां से किसी ने कहा, स्वयं गिरिधर के आदेश से मैं आपके पास आया हूँ, आप मेरे साथ रमण करें। मीरां सुंदर थीं। स्त्री थीं। सड़क पर थीं। राह चलते ऐसे शोहदे मिलते ही रहे होंगे। सिद्धहस्त भाव से उन्होंने कहा, 'धन्य भाग मेरे, प्रभु का आदेश है तो यहीं सबके सामने आप सड़क पर सेज सजाएँ और रमण करें।' उसे पानी-पानी तो होना ही था। न मारा, न पीटा, न हाय-तौबा मचायी, बस एहसास कराया कि मैं तो तुम्हें जान ही गयी हूँ, तुम भी मुझे जान लो। स्वयं में झाँको, क्या तुम मेरे योग्य हो? राह चलते मोहा जाने वाला भोगी / लोभी क्या जाकर तेजस्वी स्त्री के योग्य हो पायेगा? फ़र्स्ट डिज़र्व, देन डिज़ायर। ... ठीक है, आदमी हो, कामना जग ही गयी तो कोई बात नहीं। उस पर क़ाबू करो। अपना उन्नयन करो, योग्य बनो और करो इंतज़ार कि कोई स्त्री तुम पर आसक्त हो, ख़ुदा बंदे से ख़ुद पूछे, बता तेरी रज़ा क्या है। इस प्रसंग में पहल स्त्री को ही करनी चाहिए। पुरुष का काम है योग्य बनकर इंतज़ार करना।

एक जगह अक्क महादेवी कहती हैं : मेरी देह ही मेरी गुरु है। औरत की देह ही उसका गुरु है। उसके अनुभव ही उसके गुरु हैं, अनुभव जो ज़्यादातर खट्टे-कड़वे ही होते हैं। आप तो गयीं सत्संग के लिए, इस भाव से गयीं कि कुछ सीखने को मिलेगा, और गुरु है कि उसे आपकी देह के आगे कुछ दीख ही नहीं रहा। यदि गुरु ऐसा नहीं है तो जो लोग आपको गुरु के पास जाते, उससे मिलते देखते हैं, वे ही घनचक्कर हैं। 'संतन ढिंगि बैठि-बैठि लोकलाज खोई।' वह तो ख़ैर कहिए कि किसी शोहदे ने सीता का नाम वाल्मीकि से नहीं जोड़ा, वरना अटकलें लगाने को कोई कुछ भी लगा सकता है। दिमाग़ी विकृति का कोई इलाज़ थोड़े ही है। जिन्हें आपने बरजा-डाँटा हो या जिन्हें ध्यान देने लायक़ नहीं जाना हो, वे तो आपको नीचा दिखाने की हर सम्भव कोशिश करेंगे ही। यह कोशिश कुछ देर की ख़ातिर आपको दु:ख देगी, पर फिर आप सोचेंगी, और कोई जाने-न-जाने, मैं स्वयं को जानती हूँ। सत्य अपना प्रमाण ख़ुद है, जब मैंने कोई ओछा काम किया नहीं, क्यों चुप हो बैठूँ, क्यों इनकी बात का असर लूँ— हाथी चले बज़ार, कुत्ता भूँके हज़ार :

कोई निन्दो कोई बिन्दो
मैं चलूँगी चाल अपूठी।

अन्य आयाम : महादेवी के लेंस से

आधुनिक हिंदी कविता की मीरां कही जाने वाली महादेवी अपने जीवन के अंतिम दशक में मीरां का जो पाठ प्रस्तुत करती हैं, वह उनके अपने अवचेतन, अपने युग के अवगुंठनों पर भी उतना ही प्रकाश डालता है जितना मीरां के पाठीय अवचेतन और उनके देशकाल पर। निम्नांकित पंक्तियों के साक्ष्य से मैं यह कह पा रही हूँ :

* कर्त्तव्य के लिए परम साहस के साथ सभी कष्टों को सहना ही यहाँ की स्त्री का धर्म रहा है। ... अनबोले ही स्त्री उस युग में बलिदान देती है। ... मीरां का काव्य इस यशस्वी वीर स्त्री के चरणों का रक्तचिह्न है जिसमें गौरव है, सौंदर्य है और पवित्रता है। (गौरवमय चुप्पी और डिग्निफ़ायड सफ़रिंग के छायावादी आदर्शों का, पवित्रता और बलिदान का महिमान्वयन)।

*मीरां ने विष को अमृत बनाकर भक्तिगीतों में ढाल कर अमृत-प्रसाद को जन-जन में बाँट दिया है'। (सर्जनात्मकता का उन्नयनकारी पक्ष, छायावादी सौंदर्यशास्त्र के अनुकूल)।

*आज श्रीकृष्ण का रास हो रहा है, मीरां का जन्म, इसी रास पूर्णिमा के दिन होना चाहिए। ... जन्म तो हम भावना से लेते हैं, शरीर का जन्म आगे-पीछे भी हो सकता है। हमारा मन भावना में ही जन्म लेता है। जो क्षण हमें भावना में मिल जाता है ... उस क्षण के लिए हम समग्र जीवन जीते हैं ... मिट्टी हटाते-हटाते अचानक हमारे हाथ में एकाध हीरक कण उपलब्ध हो जाता है ... हमारा तुच्छ अहं उस विराट समष्टि का अथवा उस समष्टिकर्ता निर्माता के साथ एकाकार अथवा अखण्ड बन जाता है। (कल्पना में ही यथार्थ का अनुकूलन, पुनर्नियोजन)।

*राजनीतिक-सामाजिक पराजय का प्रभाव मुख्यतः तत्कालीन शासक वर्ग पर ही पड़ता है; ज्ञानियों, संतों और भावनाप्रधान संसार की झंझटों से दूर रहने वाले वर्ग पर इसका अधिक प्रभाव पड़ना कम सम्भव है, अतः भक्ति आंदोलनकर्ताओं पर विदेशी आक्रमणकारियों के समक्ष हार का प्रभाव पड़ने की चर्चा अर्थहीन-सी लगती है। (भक्ति और सर्जना की दुनिया को स्वयंसमर्थ, सामाजिकता के आग्रहों से ऊपर मानने का छायावादी आग्रह)।

*मनुष्य की चेतना से आप परिचित ही हैं। यह एक चेतना नहीं है, अपितु यहाँ चेतनाओं का संधान है ... मनुष्य के साथ समस्त प्रकृति अधूरी है। कहीं सुषुप्त चेतना है, कहीं प्रसुप्त-चेतना, कहीं अवचेतना है तो कहीं पराचेतना। मानव के चित्त में सारी चेतनाएँ हैं ... आज का मनोविज्ञान पराचेतना की स्थिति स्वीकार नहीं करता ... मानता है कि संसार अवचेतना में रहता है ... यदा-कदा चेतना के स्तर पर जाग पड़ता है। इस सिद्धांत का भी धर्म पर प्रभाव पड़ा है। किसी-न-किसी चेतना के हम सब अवतार हैं। (मनुष्य और प्रकृति / ब्रह्मांड के अवयवों को अंतःसंबद्ध संज्ञान मानने वाला छायावादी दर्शन)।

*अवतारवाद ने अर्द्धस्त्रीश्वर के पुरुष-स्त्री को अलग कर दिया। ... कबीर ने सबको फटकारा (अन्य भक्त-कवियों ने दैन्य दिखाया)— मीरां माधुर्य में रमी रहीं : सिद्ध-समाज की ज्ञानचर्चा में भावनाएँ नहीं बाँधीं (सारांश मेरा)।

*स्वयं मैंने विद्रोह के गीत लिए थे, वे सब गीत अब खो गये हैं। विद्रोह चिरकाल तक ठहर नहीं सकता ... जब विद्रोह समाप्त हो जाता है, विद्रोह के गीत प्रायः भुला दिये जाते हैं ... मीरां का विद्रोह भी मधुर है, मीरां किसी के प्रति कोई राग-द्वेष नहीं रखतीं। ... गाँधी जी ने 'भारत छोड़ो आंदोलन' में अंग्रेज़ जाति को यहाँ से चले जाने का आग्रह किया था, मगर मीरां ने किसी को हट जाने का इशारा नहीं किया। ... उन्होंने प्रेम, करुणा, भक्ति, कर्त्तव्य, ब्रह्मचर्य, संयम और अपरिग्रह के उदात्त गुण जीवन में उतारे (शाश्वत और कालातीत होने का छायावादी आग्रह)।

*मीरां के गीतों में भारतीय विधवा के चिह्नों का अभाव है। उन्होंने तो कहा है - मो भावे पचरंग चीर रँगाऊँ, पचरंग चोला पहनूँ - झुरमुट खेलन जाऊँ। (आशय : भारतीय विधवा कामनातीत होती है)। मीरां के गीतों में न केवल विरह है, न केवल विद्रोह ... उनके गीतों में सभी मनोभावों का मधुरतम चित्रण पाया जाता है : संयोग-शृंगार, ज्ञान-चर्चा ... जो कुछ मीरां कहती हैं, उसमें मधुर भाव है, कहीं भी द्वेष, क्रोध या चिढ़ की हिंसा नहीं है। अन्य भक्त कवियों के काव्य में तो यदा-कदा नाराज़गी की आंशिक हिंसा भी झलक जाती है। जैसे गोपियाँ कहती हैं कि पपीहे की

चोंच मरोड़ दी जाए, कोयल के पंख नोच डाले जाएँ, क्योंकि वे श्रीकृष्ण के बिना भी बोल पड़े ... मीरां के विरह गीत इतने अहिंसक और आत्मपरक हैं कि इनकी तुलना किया जाना भी कठिन है। (गाँधीवादी आग्रह)।

*जिस बादल में पानी नहीं होता, उससे बिजली पैदा नहीं हो सकती? पानी से भरा बादल ही बिजली का दाह सँभाल सकता है। अकेला शौर्य मंगलमय नहीं होता। ...मीरां के हृदय हार से ही भारतीय हृदय का विकास हुआ है। (सुप्रा-रैशनल तत्त्व की स्थापना)।[14]

ध्यान से पढ़ने पर स्पष्ट है कि महादेवी ने सविनय अवज्ञा के युगीन आदर्श के रूप में मीरां का एक पाठ प्रस्तुत किया, समकालीन स्त्रियाँ परेशानियों के आलोक में पाठीय अवचेतन अलग ढंग से टटोलकर बहनापे की शृंखला आगे बढ़ा सकती हैं। पर इन दोनों विखंडनों के पहले, भूमिका के रूप में, थोड़ी-सी चर्चा मीरां के अपने देश-काल, उनके अपने नैतिक भूगोल की, जिसने उन्हें रचा।

मीरां के जन्म के समय बाबर ने समरकंद फ़तह किया था। दो विफल आक्रमणों के बाद भारत में अंततः उसने पैर जमा लिए थे। मीरां के मेवाड़ से मेड़ता जाने के ठीक दो वर्ष बाद (1531 में) हुमायूँ राजगद्दी पर आया और लगातार शेरशाह सूरी के आक्रमण झेलते हुए अंततः उससे हार भी गया। शेरशाह के राजकाल में ही मीरां ने शरीर छोड़ा। ... इस बीच राजस्थान के राजपूत घराने न सिर्फ़ मुगलों से बल्कि आपस में भी लगातार लड़-भिड़ रहे थे

बाहर की दुनिया से हार-थककर, चिढ़ कर घर लौटा आदमी औरतों की क्या गत करता है, सबको पता है। एक तरफ़ कुल-मर्यादा, कुल गौरव के नाम पर बालिका-वध, सती, विधवा-विद्वेष, दूसरी तरफ़ मैट्रिमोनियल अलायंस के रूप में भेड़-बकरियों के बथान के रूप में रनिवासों का विकास। वीर-प्रसविनी बनना ही तब स्त्रियों का मूल धर्म था। ऐसे में स्वाभाविक है कि पति की अंकशायिनी बनने से साफ़ इनकार करने वाली स्त्री या तो बावरी (पागल) क़रार कर दी जाएगी या पुंश्चली। सुहाग-चिह्नों और अनुरागोन्माद के कई लक्षणों की मीरां के काव्य में एक दमकती हुई-सी उपस्थिति है। इसीलिए महादेवी वर्मा का संस्कारी मन यह मानने के लिए राज़ी नहीं होता कि मीरां वैधव्य-शापित थीं, जबकि प्रोफ़ेसर विश्वनाथ त्रिपाठी जैसे कई आचार्य मीरां-काव्य को विधवा-विमर्श की तरह ही पढ़ते हैं। उन्हें यह मानना मर्यादासम्मत दीखता है कि पति की तो वे आदर्श पत्नी थीं, उनका दाम्पत्य जीवन भरा-पूरा था, किसी कारण सती नहीं हो पायीं और परिवार के अन्य जन निष्ठुर हुए, तब उन्होंने भगवद्भक्ति में मन रमा लिया। यानी वे दुनिया पूरी तरह ही ट्रांसेंड कर गयीं; पर लोग हैं कि बात बनाते रहे क्योंकि विधवाओं और वेश्याओं के लिए एक ही सम्बोधन था— राँड।

आधुनिक पाठक के लिए वैधव्य के दुर्गिंजन से मुक्ति पाने को छटपटाती स्त्री के फ्रेम में 'सूली ऊपर सेज पिया' के विराट अर्थ-गौरव का संकोचन ख़ासा कठिन है। 'मजबूरी का नाम महात्मा गाँधी' वाली बात। सती न हो पाने का दाह कविता को ही मीठी आँच वाली सेज बना गया— मीरां जैसे विराट व्यक्तित्व की महिमा से यह स्थापना मेल नहीं खाती। निर्णय की स्वाधीनता का तेज जिसमें ऐसा प्रखर हो, वह भला धुआँएगा क्योंकर! जो करना होगा, कर गुज़रेगा (प्रतिकारवश), पार्वती की तरह अग्निकुंड में कूद कर या सीता की तरह धरती में धँस कर।

महादेवीजी की इस स्थापना में बल है कि मीरां की कविता में कभी एक क्षण भी किसी दैन्य, किसी अपराधबोध, किसी डाँट-फटकार की आहट नहीं है। न वे कबीर की तरह की अक्खड़ उपदेशमयता से कीलित हैं, न सूर-तुलसी की तरह दग्ध विनय से। विष को भी अमृत बना लेनेवाला

[14] महादेवी वर्मा द्वारा मीरां-जन्मशताब्दी पर राजस्थान में दिये गये भाषण शृंखला के अंश। अनामिका (सम्पा.) (प्रकाशनाधीन).

माधुर्य ही है यहाँ। 'राणाजी ने भेजा विष का प्याला/पी गयी मीरां हाँसी रे' में या ननद को सम्बोधित पदों में एक हलका-सा तंज़ तो दिखाई देता है, लेकिन देवर-भाभी या ननद-भाभी वाले संबंध का माधुर्य वहाँ भी झिलमिलाता-सा है। पदों की गीतात्मक विधा में आत्मकथा के प्रसंगों की कौंध स्त्री-सुलभ मधुर हास्य के साथ छौंक देना मीरां के लिए ही सम्भव था।

मीरां और भी तरह से मीठे हास्यबोध का पता देती हैं : 'बदनामी लागे मीठी।' 'बिंदो चाहे बिंदो' का यह मस्तानापन हर्षातिरेक की पराकाष्ठा है। 'गोविंद लीनो मोल' के रूपक का विस्तार भी वे मेटाफ़िज़िकल व्यंग्य-विनोद के साथ करती हैं— 'कोई कहे मँहगो, कोई कहे सुहलो, लियो जी तराजू तोल।' लारेंस कैप्टेंस डॉल में लिखते हैं कि स्त्रियों की यह मुसीबत है कि वे पुरुषों को गुड्डा बना लेना चाहती हैं। स्त्रियाँ भी पुरुषों पर यह अभियोग लगा सकती हैं कि पुरुष ही नहीं, घरवाले भी उन्हें गुड़िया समझते हैं। महादेवी वर्मा ने इस पर सहज आपत्ति उठायी है कि वीरता के पुरस्कार के रूप में कन्या का दान स्वयंवर के नाम पर स्त्री का पण्यीकरण ही था। पर मीरां जिस ख़रीद की बात करती हैं, उसमें जॉन डन वाला मेटाफ़िज़िकल विट चमक रहा है। मोल ली हुई चीज़ डंके की चोट पर अपनी हो जाती है : उसे न कोई छीन सकता है, न उस पर कोई दावा ठोंक सकता है, फिर यह ऐसी-वैसी ख़रीद तो है नहीं, अपना वजूद देकर यह अमौलिक वस्तु ख़रीदी गयी है, इसलिए यह और अनमोल और अविभाज्य है।

इस तरह के विटी प्रयोग एमिली डिकिंसन के यहाँ भी बहुत मिलते हैं। कोर्ट-कचहरी से लिया गया 'एफ़िडेविट' जैसा शब्द भी उनके यहाँ एक विशिष्ट अर्थगौरव पा जाता है :

नर्क से कोई आत्मकथा नहीं लिखी किसी ने, और स्वर्ग का हलफ़नामा नहीं था।

स्त्रियाँ ऐसे प्रयोगों में निपुण होती हैं क्योंकि कॉस्मिक और कॉमनप्लेस के बीच कोई पदानुक्रम वे नहीं मानतीं। आत्मीयता का विस्तार उनकी भाषा को एक सहज प्रजातांत्रिक, संवादधर्मी गौरव देता है। पदानुक्रमकीलित नहीं होता उनका संसार। ऊँच-नीच— सारे प्रसंगों को एक चटाई पर बिठाकर उनसे अपना सुख-दुख बतिया लेने की आत्मप्रवाही सहजता ही उन्हें 'लोक और शास्त्र' के बीच का पदानुक्रम तोड़ने में भी मदद करती है।

'पग घुँघरू बाँध मीरां नाची रे' में भी एक हलका-सा विनोद है। नागर जी का 'सुहाग के नूपुर' बताता है कि गणिकाओं के मन में सुहाग के नूपुर की कितनी साध होती थी, क्योंकि घुँघरू ही उनके हिस्से आये थे। घुँघरू की झंकार सघनतर होती है, लोक को निवेदित कि सुनो भाई लोगो, यह मैं हूँ। डंके की चोट पर अपने स्वतंत्र वैभव का उद्‌घोष करती हुई एक कॉस्मिक नृत्य मीरां जो नाची हैं, उसकी टंकार आज के स्त्री-साहित्य में भी जीवित है। जीवित है यह ठस्सा कि कुलवधू वाले नूपुर की मीठी-सी रुनझुन में नहीं, डंके की चोट पर मैं अपनी मुक्ति का जश्न मनाऊँगी। फ्रेंच मनोवैज्ञानिक इरिगेरी ने स्त्री-भाषा में जिस मिमिक्री की आहट सुनी थी, सबको धता बताकर आगे निकल जाने वाली वह अद्‌भुत तरह की नटखट त्वरा यहाँ गुंजायमान है।

इसी तरह 'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई'— यहाँ एक के स्वीकार में सारी दुनिया का निषेध, पितृसत्ता, राज्यसत्ता, सबका निषेध शामिल है जो उस समय के लिए बड़ी बात थी। यही नहीं, एक सामान्य गोपी के रूप में रानी अपनी कल्पना करे, यह भी एक क्रांतिकारी घटना है। गोपियों का समाज पदानुक्रमग्रस्त समाज नहीं था। इससे भी बड़ी बात यह कि यहाँ स्त्री एक लदा हुआ गर्भ-भर नहीं थी। उसकी कामना का विस्तार मातृत्व से इतर भी कहीं था। अपनी नॉन-प्रोडक्टिव भूमिका में भी स्त्री का प्रेम वरेण्य है, इस तथ्य को स्वीकृति देती दीखती हैं मीरां। और मुक्ति-पथ पर जो बाधा बनता है, उससे परिहासपूर्वक कहती हैं : 'अपने घर को पर्दा कर ले, मैं अबला बौरानी।'

पर्दा तो उससे किया जाता है जिससे लीला करनी हो, जो अपनी टक्कर का पुरुष लगे। बाक़ी तो सब बाल-बुतरू हैं उनसे क्या पर्दा, उनको तो पाल-पोसकर बड़ा कर देने के यत्न कर देने हैं : 'पिया मोर बालक, हम तरुनी' वाले मारक एहसास के साथ, ज़्यादातर स्त्रियाँ जिसकी भुक्तभोगी होती हैं क्योंकि नैतिक/आध्यात्मिक क़द-काठी में बराबर का पुरुष उनको जल्दी मिलता ही नहीं। इसी की ओर इशारा करती हुई महादेवी गुरु रविदास प्रसंग का ज़िक्र करती हैं।

छायावादी/गाँधीवादी मानदंडों पर और संग्रंथित स्त्रीवाद के निकष पर खरी उतरने वाली सबसे अनूठी प्रस्तावना यही है। मीरां वरेण्य हैं, अपनी अहिंसा की ख़ातिर, विष पचा कर अमृत में बदल देने की अपनी क्षमता की ख़ातिर, उनकी कविता में बिजली की त्वरा है क्योंकि उनमें जलतत्त्व का निषेध नहीं! जलपूरित बादलों में ही विद्युत का आवेग होता है : डॉ. किशोर से शब्द उधार लेकर कहें तो:

आग-भरा पानी का मन है,
कौन करे सहसा विश्वास,
कैसे समझाऊँ दुनिया में
कितना महँगा है उल्लास।[15]

निष्कर्ष : स्वाधीनता-संग्राम, स्त्री-यूटोपिया और मीरांबाई

स्त्री-मुक्ति हर जगह वि-उपनिवेशीकरण की परियोजना का एक महत्त्वपूर्ण पहलू रहा है। चूँकि साम्राज्यवादी ताक़तें समाज-सुधार का काम-धाम फैला कर अपनी छवि सुधारने की अनवरत कोशिश कर रही थीं, और 'सुधार' का ध्यान बिगाड़ की ओर जाना ही था। सबसे ज़्यादा बिगड़ी हुई स्थिति थी स्त्रियों की, इसलिए उनकी स्थिति को निवेदित कई बिल पास हुए। बाल-विवाह पर अंकुश लगाने वाले शारदा ऐक्ट के अलावा भी 1829 में सती-प्रथा के ख़िलाफ़ और 1850 में विधवा-विवाह के समर्थन में बिल पारित हुए। इनसे स्थानीय नेताओं की चेतना में भी यह बात रेखांकित हुई कि स्त्रियाँ भी इंसान ही हैं, और स्त्री-शिक्षा तथा स्त्री-स्वास्थ्य पर ध्यान देना आंदोलन के लिए भी हितकर होगा। लुब्बेलुबाव यह कि अगलगी में कुत्ते को नफ़ा हो न हो, साम्राज्यवादी और साम्राज्यविरोधी ताक़तों की मुठभेड़ में स्त्रियों को स्पष्ट लाभ हुआ, जैसे कि शहरीकरण से दलितों को। स्त्रियों को कम-से-कम शिक्षा की आँख मिली— ख़ासकर मध्यवर्ग में। शिक्षा की आँख मिल गयी तो वह मारक स्थिति भी गयी जिसके बारे में बाइबिल कहती है : सीइंग दे डोंट सी, हियरिंग दे डोंट हियर। 1920 तक गाँधीजी के मन में भी यह साफ़ हो गया था कि स्त्रियों के नैतिक, मनोवैज्ञानिक और व्यावहारिक सम्बल के बिना राष्ट्रीय आंदोलन परवान चढ़ ही नहीं सकता। उनके मन में यह भी ज़रूर साफ़ होगा कि एक महानाट्य जो उन्हें चौराहों पर आयोजित करना है, उसमें स्त्रियों की बड़ी भूमिका होगी। जैसा कि हम सब समझते ही हैं, ग़रीबों और वंचितों के घटनाविहीन जीवन में राग-रंग पूरित नाटकीयता का एक बड़ा मंच धर्म है, शायद इसी ख़ातिर ग़रीब देश ज़रा ज़्यादा ही धार्मिक रहे हैं। धर्मप्रवण देश के राजनेता भी ख़ूब समझते हैं कि भव्य नाटकीय/काव्यात्मक/महाकाव्यात्मक दृश्यविधानों के बिना जन-जीवन स्पंदित नहीं हो पायेगा।

गाँधीजी ने भी बुद्धिमत्तापूर्वक ऐसे कुछ नाटकीय/महाकाव्यात्मक क्षण ऐन चौराहों पर मंचित किये जिनसे जन-जीवन स्पंदित हो जाए। इस व्यूह-रचना में उन्होंने अद्‌भुत प्रतीक-योजना का सहारा लिया— नमक, चरखा, लाठी, लँगोट, ब्रह्मचर्य, वस्त्र-दहन, आभूषण-दान, अनशन-पिकेटिंग

---

[15] श्यामनन्दन किशोर (2012), *तुम खुले नयन के सपने हो,* प्रकाशन संस्थान, दिल्ली : 17.

यानी कि खटवास-पटवास लेने, त्रिया-हठ ठानने की लोकप्रचलित प्रविधि— ध्यान से देखा जाए तो गाँधीवादी रणनीति के एक-एक अवयव का संबंध स्त्री-जीवन की अंतरंग दैनंदिनी से है। सविनय अवज्ञा (अवज्ञा मगर सविनय) की पूरी तकनीक ही दरअसल स्त्री-भाषा की तकनीक है। गाँधी ने सत्याग्रह की घरेलू तकनीक को बड़ा राजनीतिक वितान दिया। युगों से उपेक्षित स्त्रियों के अवचेतन पर इस काव्यात्मक प्रतीक-योजना का गहरा प्रभाव पड़ा। इस आश्वासन से वे बेहद आह्लादित हुईं कि एक बड़े अभियान में उन्हें भी शामिल किया गया है। इसका एहसास हमें उस समय के स्त्री-लेखन से होता है और लोकगीतों तथा लोक-आख्यानों से भी, जिनकी रचयिता अक्सर लोरी गातीं, चरखा चलातीं, किसी घाट पर साथ मिलकर कपड़े पछीटतीं, धान कूटतीं स्त्रियाँ ही होती हैं।

उस समय की सब लेखिकाओं और लोक-गायिकाओं के मन में एक नये पुरुष की प्रतीक्षा है। पुरुष जो साथी होगा, स्वामी नहीं! महादेवी वर्मा के गीतों का चिरप्रतीक्षित पुरुष ऐसा ही पुरुष है। स्त्री-मन में उसकी कल्पना जग गयी है लेकिन हाड़-मांस ओढ़कर वह अभी तक सामने नहीं आया है। सुभद्राजी की कविता 'वीर' और 'वात्सल्य', दोनों रसों का सम्यक संतुलन नयी स्त्री में घटित करती है— 'मरदानी' का शब्द-विचलन, 'एकादशी' का राजनीतिक विनियोग और बिल्कुल नये संदर्भों में भारतीय मोटिफ़ों का पुन:रोपण इनकी भाषिक सजगता का उत्कट प्रमाण है। *सुगृहिणी, चाँद, स्त्री* आदि में प्रकाशित अन्य स्त्री-रचनाकारों की भाषा, उनके तेवर, उनकी प्रश्नबहुलता, उनका व्यंग्य-विनोद भी 'कांतासम्मत' उपदेश के घेरे के बाहर जाते हैं। उन सबकी भाषा में कभी तो सविनय अवज्ञा के (संयत ढंग के) पुरमज़ाक तेवर का जायज़ा मिलता है, तो कभी मीरां के बिंदास विद्रोह की आहट मिलती है।

ज़्यादातर कृतियों में स्त्रियाँ स्वयं अपना या अन्य स्त्रियों का उद्‌बोधन करती जान पड़ती हैं और उनके चित्त में एक ऐसे राष्ट्र का सपना अँगड़ाई लेता-सा जान पड़ता है जहाँ परम्परा से रूढ़ियाँ बीन-फटक ली जाएँगी, और वर्गों-वर्णों-सम्प्रदायों के बीच, अंग्रेज़ों और भारतीयों के बीच और स्वयं स्त्री-पुरुष के बीच भी भेड़-भेड़िये वाला रिश्ता न होकर सम्यक मैत्री का रिश्ता होगा और, उस स्तर के क्रीड़ा-कौतुक का भी, जो मीरां की काव्यभाषा के आनन्दातिरेक, उसकी प्रफुल्लता में कलकल-छलछल बहता है। एक आदर्शलोक, एक यूटोपिया और मनचीते साथी के ब्लूप्रिंट, उसकी आहट, उसके आभास के बिना भाषा का यह प्रफुल्ल आवेग सम्भव ही नहीं है : 'पायो जी मैंने राम-रतन धन पायो' के राम हों, या 'गोविंद लीनो मोल' के गोविंद, उन्हें एक ख़ास तरह के ब्लूप्रिंट की तरह पढ़ने पर भाषा का यूरेका-तत्त्व अलग ढंग से उजागर होगा।

भारतीय परम्परा की बैटरी आधुनिकता के नये सॉकेट में रीचार्ज़ होने देना स्त्री-भाषा की एक बड़ी चुनौती तब भी थी और अब भी है! वर्ग-वर्ण-सम्प्रदाय और लिंगगत भेदभाव की संरचनाओं से मुक्त, पशु-पक्षी और पूरी प्रकृति के प्रति संवेदनशील जिस बृहत्तर बंधु-परिवार का स्वप्न स्त्री-साहित्य ने देखा है, उसकी भाषा-शैली भी वही प्रतिबिम्बित करती है— वहाँ भी सारे पदानुक्रम तोड़कर, दौड़कर गले मिलते हैं कॉस्मिक और कॉमनप्लेस, मैक्रो और माइक्रो, पर्सनल और पॉलिटिकल, गँवई और शहराती, लोक और शास्त्र, कल्पना और जल्पना!

सूर्योदय के पहले सूर्याभास होता है; स्पष्ट निर्णयों के तेज के पहले भाषिक अवचेतन भी सूर्योदय की लाली दर्ज कर रहा था— 'बीती विभावरी, जाग री/अम्बर-पनघट में डुबो रही/ तारा घट ऊषा नागरी' के विराट बिम्ब की परछाईं स्त्रियों के भाषा-जल में भी लगातार स्पंदित थी और इस स्पंदन की प्रकृति कहीं-न-कहीं तो मीरांबाई और अन्य भक्त कवयित्रियों से जुड़ती है।

जहाँ तक महादेवी का प्रश्न है, 'यह विरह भी रात का कैसा सवेरा है' आदि दो-चार कविताओं को छोड़ दें, तो कविताएँ राजनीतिक चेतना की धमक से दूर ही रखी गयीं। सारे सामाजिक सरोकार

गद्य के ही हिस्से आये। भूले से भी इस कोठी का धान उस कोठी न गया। आख़िर क्यों? शायद इसलिए कि सामाजिकता बहुमूल्य धन थी। बहुत परिश्रम और लम्बे इंतज़ार के बाद हमें जो भी मिलता है, हम उसे बचा-बचाकर खर्च करते हैं, ख़ासकर कविता में। कविता पोस्ट ऑफ़िस का खाता है, लम्बी अवधि का लॉकअप उस पर होता है। उसका ब्याज हरसट्ठे आपके हाथ नहीं आता और रह-रहकर आप उसमें कुछ जमा भी नहीं कर सकते। पर गद्य का खाता आवर्ती जमा खाता है तो राजनीतिक संदर्भ वहाँ बख़ूबी खिले। इसके अलावा 'ज़नाना' आदि में अंग्रेज़ी पढ़ाने आयी मेमसाहिबों की नर्सरी राइमों के जैसे फ़ितना अनुवाद सड़क पर प्रचलित हुए, वे भी ग़ौर करने लायक़ हैं। उनमें कहीं भी नहीं है सविनय अवज्ञा का सौष्ठव, भगतसिंह वाला क्रांतिकारी तेवर है वहाँ या फिर भ्रमरगीत वाला लौंगिया चरपरापन, जहाँ भाषा इतिहास का औज़ार बनती है। पर सविनय अवज्ञा के आसपास के शिष्ट स्त्री-साहित्य पर, गाँधी बाबा से वैसी ही गपशप दर्ज है जो 'कलकत्ता पर बजर गिराने' से पहले चम्पा त्रिलोचन से करती है या मिनी रवींद्रनाथ ठाकुर से। उस गपशप में भी विनय तो है, पर हलकी अवज्ञा की आहट के साथ।

जहाँ स्त्रियाँ गाँधीजी से सहमत हैं, वहाँ तो विनय है, बाक़ी प्रश्नबिद्ध बंकिमता है जिसे महीन अवज्ञा की श्रेणी में रख सकते हैं। भाषा में महीन अवज्ञा की सारी तकनीकें परावर्तित हैं। 'मैक्रो' और 'माइक्रो', 'पॉलिटिकल' और 'पर्सनल' के बीच तकली घुमाती हुई-सी या कहिए, क्रोशिया घुमाती हुई-सी यह भाषा है : अपना चरखा चलाती भाषा, कछारों पर अपना ही नमक बनाती हुई भाषा, 'स्त्रीपत्र' की मृणालिनी वाली भाषा, 'नष्टनीड़' की चारू ने अपने देवर, अमल, की लच्छेदार, रोमानी भाषा का प्रभाव काटकर अपनी जो प्रांजल भाषा अर्जित की है, वह भाषा— सहज-सरल, सुंदर, अनन्वय। धीरे-धीरे ही सही, वजूद का जकड़ा दरवाज़ा खुल तो रहा है। सविनय अवज्ञा के वैसे तो कई उदाहरण हो सकते हैं। बानगी के लिए एक ही उठाती हूँ— श्रीमती स्नेहलता, बीए के 'विवाह समस्या' नामक लेख से :

> बहुत से मनुष्य इसे कलियुग का अंत ही समझेंगे किंतु जब विवाह-व्यवस्था का अंत हो जाए ... बदमाश या गुण्डे रहेंगे ही नहीं... व्यभिचार, स्त्रैणता, विलास आदि गुण बढ़ेंगे नहीं, बल्कि बहुत कम हो जाएँगे। प्रत्येक व्यक्ति में पाचन-शक्ति भिन्न हुआ करती है, उसी के अनुसार वह अपने स्वास्थ्य का नियम बनाता है। ... (तृप्त मनुष्य ही) गूढ़ता पर विचार कर पायेगा। ... हमें गुलाब और चमेली, दोनों प्रिय हो सकते हैं। एक स्त्री के निकट एक पुरुष विद्वत्ता के कारण, दूसरा शारीरिक सौंदर्य के कारण, तीसरा आत्मा और चरित्र की पवित्रता के लिए और चौथा देशभक्ति और त्याग के लिए प्रशंसनीय हो सकता है। एक संकीर्ण घेरे में बाँधने से प्रेम का गला घुटता है।[16]

सधे हुए क्रोध का सर्जनात्मक उपयोग आये दिन स्त्रियाँ करती रहती हैं—करवट बदलकर, खाना-पीना छोड़कर ... उसी तरह का 'पैसिव प्रतिकार' गाँधीवाद है जिसकी वकालत पश्चिम में थोरो, तॉल्सतॉय या यॉस्नाया पोलियाना ने की थी। गाँधी का महत्त्वपूर्ण योगदान यह है कि बड़े राजनीतिक फलक पर उन्होंने यह कर दिखाया और इसको दिखाने में स्त्री-शक्ति का स्पष्ट आह्वान किया। इतने व्यावहारिक वे थे कि स्पष्ट देख पाते कि जिस तरह का आत्मबल त्याग-तपस्या से पैदा होता है, स्त्रियों के पास उसका स्रोत अक्षुण्ण है।

किताबें तो गाँधी ने चार ही लिखीं, बाक़ी नन्ही सलाहें, उपदेश और अभिमत हैं— पत्रों-प्रश्नों के जवाब! सार्वजनिक चिंतन की बहुतेरी विसंगतियाँ वहाँ हैं, पर उनका रेंज, आत्मीयता और चुटीलापन वही है जो कांतासम्मत उपदेशों की अभ्यस्त महिला-समाज की 'टॉक स्टोरीज़' का होता

---

[16] श्रीमती स्नेहलता, बीए (1932), 'विवाह समस्या', *चाँद*, विदुषी अंक, महादेवी वर्मा (सम्पा.), खण्ड 2, वर्ष 14.

है। खान-पान के संयम से लेकर बड़े राजनीतिक मसविदे तक, कुछ भी वे उसी सहजता से बाँच जाते हैं जिससे स्त्रियाँ दैनंदिन कलाप बाँचती हैं। बात शुरू होती है मैक्रो प्रसंग से और टेलिस्कोपन तकनीक से छोटी होती-होती अंतरंग मशविरे का रूप ले लेती हैं। कभी-कभी इसका उलटा भी होता है, पर कुल मिलाकर पदानुक्रम टूटता ज़रूर है मैक्रो-माइक्रो, सार्वजनिक और निजी के बीच का।

स्वराज और सर्वोदय गाँधी के लक्ष्य थे, सत्य-अहिंसा सादगी और श्रम की गरिमा उनके मूल सिद्धांत, भूदान, नयी तालीम और गृह-उद्योग उनके साधन। प्रतिपक्षी की आँखें खोलने में भाविक ऊर्जा या तर्कमयता का इस्तेमाल तो होगा ही, नाटकीय वैभव और चुटीलापन—स्त्री की भाषा वाला चुटीलापन, त्रियाहठ और बालहठ का अनुपम संयोग, बाँकी-सी ज़िद यह स्थापित करने की कि प्रयोग सिर्फ़ वैज्ञानिक ही नहीं करते, सत्यान्वेषी भी करते हैं, सत्य सिर्फ वस्तुनिष्ठ नहीं होता, आत्मनिष्ठ भी होता है। 'अहिंसा' के विज्ञान का प्रसार सत्य करेगा—सत्य जो प्रत्येक व्यक्ति अपने ढंग से अर्जित करेगा, जैसे प्रयोगशाला में हर व्यक्ति अपना प्रयोग अलग करता है। किसी मनोवैज्ञानिक युद्ध में तथ्य को तोड़-मरोड़कर पेश करने की प्रवृत्ति तो होती है, इस प्रवृत्ति से बचना है, जीतना है लेकिन विकृत साधनों से नहीं, उन्हीं साधनों से जो ग़रीब से ग़रीब व्यक्ति के पास होते हैं, हो सकते हैं अर्थात् स्वाभिमान और गरिमा। एक दमनचक्र का जवाब दूसरे से नहीं देना, टी. वॉशिंगटन की बात हमेशा याद रखनी है : लेट नो मैन पुल यू सो लो एज़ टु मेक यू हेट हिम। अक्षुण्ण प्रेम का यह मनोभाव भी उन्हें स्त्री-पक्ष से जोड़ता है, और बात को बार-बार अपने अनुभवों की ओर मोड़ने की प्रवृत्ति उन्हें उनसे जोड़ती है।

अनुभव से मैं जानती हूँ कि निरंकुशता द्वारा दिया गया आज्ञा-पालन का आदेश कितना भयावह होता है। अपने आप में दुष्टता जितनी भयावह होती है, उससे भी ज़्यादा भयावह है यह।[17]

असली तालीम तो स्कूल ख़त्म होने के बाद शुरू होती है। अपना सबसे बड़ा अध्यापक व्यक्ति स्वयं होता है। सबसे बड़ा विद्यालय तो अनुभव ही है।[18]

हाड़-मांस की गुड़िया के ऊपर भी स्त्री कुछ है— विश्वसखा, विश्वभागिनी; 'प्रोडक्शन' और 'रीप्रोडक्शन' के ऊपर भी उसकी बड़ी भूमिका है। आत्मबल पशुबल से कई गुणा बड़ा है, यह बात उस वक़्त के लिए बड़ी थी। दर्शन को निरी बौद्धिकता की कारा से आज़ाद करके राजनीति को दर्शन का पुट दिया, नैतिक विकास का श्रेय स्त्री-शक्ति को। यही गाँधी का योगदान है। लेकिन जैसा कि तनिका सरकार, मधु किश्वर आदि के आलेख सिद्ध करते हैं, उस समय के स्त्री-विषयक चिंतन में कुछ अंतर्विरोध भी थे, और मेरी अपनी मान्यता यह है कि यही अंतर्विरोध स्त्री-भाषा सविनय अवज्ञा के साथ उद्घाटित किये जा रही थी।

संदर्भ

अरुण चतुर्वेदी (सम्पा.) (2006), *मीरां : एक मूल्यांकन,* श्याम प्रकाशन, जयपुर.

एमिली डिकिंसन (1970), *एक्ट्स ऑफ़ लाइट,* नैंसी ई. बर्कर्ट और जेन लैंग्स्टन (सम्पा.), न्यूयार्क ग्राफ़िक सोसाइटी.

कुमकुम संगारी (2012), *मीरांबाई और भक्ति की आध्यात्मिक अर्थनीति,* अंग्रेज़ी से अनुवाद : अनुपमा गुप्ता, वाणी प्रकाशन, दिल्ली.

---

[17] पुष्पा भावे (सम्पा.) (1988), *गाँधी ऑन वुमॅन,* नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद : 42.

[18] वही : 16.

जे. बर्नहार्ट (1999), 'द इनक्यूरेबिली रिलीजस एनिमल', एमाइल साहलियेह (सम्पा.), *रिलीजस रिसर्जेंस ऐंड पॉलिटिक्स इन द कंटेम्परेरी वर्ल्ड,* एलबेनिस युनिवर्सिटी, न्यूयार्क.

पुष्पा भावे (सम्पा.) (1988), *गाँधी ऑन वुमॅन,* नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद.

भरत सिंह उपाध्याय (2010), *थेरी गाथा,* गौतम बुक सेंटर, दिल्ली.

महादेवी वर्मा द्वारा मीरां-जन्मशताब्दी पर राजस्थान में दिये गये भाषण शृंखला के अंश। अनामिका (सम्पा.) (प्रकाशनाधीन).

मिक्वायर बारब्रे और हैली हौमटेन विंज़ (1975), 'अ रिचुअल सेलिब्रेशन', *वुमॅन स्क्रिप्ट 2,* अंक 5, हेमंत, इज़ुइनॉक्स.

मुकुंद लाठ द्वारा पल्लव के साथ हुई बातचीत (जयपुर, 2002) में उद्धृत.

रेचल ऐल्स, ऐनेटे फिट्साइमंस और कैथलीन लेनन (2002), *थियराइज़िंग मेन ऐंड मैस्कुलिनिटीज़,* पॉलिटी प्रेस, कैम्ब्रिज.

श्यामनन्दन किशोर (2012), *तुम खुले नयन के सपने हो,* प्रकाशन संस्थान, दिल्ली.

श्रीमती स्नेहलता, बीए (1932), 'विवाह समस्या', *चाँद,* विदुषी अंक, महादेवी वर्मा (सम्पा.), खण्ड 2, वर्ष 14.

हीड केंड (1964), *केंटरबरी टेल्स,* बेंटम बुक्स, यूके.